

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

**TIGHT BINGING
BOOK**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180670

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H82
P915

Accession No.

Author प्रसाद, जयशङ्कर

H 558.0

Title स्कंदगुप्त विजयनाथ

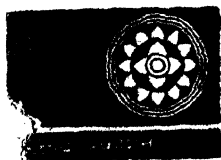
This book should be returned on or before the date marked below.

स्कंदगुप्त

विक्रमादित्य

(ऐतिहासिक नाटक)

जयशङ्कर 'प्रसाद'



प्रसाद मन्दिर :: गोवर्द्धनसराय :: वाराणसी

लेखक

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'



संपादक

श्री रत्नशङ्कर प्रसाद



प्रकाशक

प्रसाद प्रकाशन, प्रसाद मन्दिर

गोवर्द्धनसराय, वाराणसी



सर्वप्रथम

१९२८ ईसवीय में प्रकाशित



सर्वप्रथम संपादित

प्रसाद मन्दिर संस्करण १९८० ईसवीय

आवृत्ति-सितम्बर १९८३



सर्वाधिकार संपादकाधीन

© श्री रत्नशङ्कर प्रसाद

मूल्य : सात रुपये पचास पैसे मात्र

Historical Play By Shri Jay Shankar "Pra:
Printers : Bhargava Bhushan Press, Vara



जन्मदिनांक : माघ शुक्ला दशमी विक्रमीय संवत् १९४६

मृत्युदिनांक : कार्तिक शुक्ला एकादशी वि० संवत् १९९४

श्री का. उ. उत्तरकीर्ति, श्री, विद्या और विनय से संपन्न भक्तिप्रधान
 माहेश्वर कुल में साहु देवीप्रसादजी के कनिष्ठ आत्मज के
 श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' का जन्म हुआ। उन्होंने स्थानीय कवीस
 ज में गणेश की कक्षा तक अध्ययन किया। उसके बाद हिंदी, अंग्रेजी
 संस्कृत के परंपरा प्राप्त विद्वानों से घर पर ही काव्य और
 तत्त्व की ठोस प्रारंभिक शिक्षा पाई। बाल्यावस्था से ही कवियों
 मनीषियों के प्रीय सत्संग से उनकी नैसर्गिक प्रतिभा विकसित
 ली। किशोरावस्था में ही कविता उनके कंठ से फूट चली और
 श्रमपुरुषी व्यावसायिक गद्दी—नारियल बाजार वाली सुंघनी

साहु को दूकान पर अविदित भाव से उन्होंने चुपचाप काव्य-साधना को अग्रसर किया। वि० संवत् १९६३ में 'भारतेंदु' में पहली बार उनकी रचना प्रकाशित हुई : इसी वर्ष उन्होंने 'उर्वशी चंपू' एवं 'प्रेम राज्य' के प्रणयन किये जिनका प्रकाशन वि० सं० १९६६ में हुआ। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये उन्मेष लेकर 'इंदु' के माध्यम से उनकी कवितायें, कहानियाँ, नाटक और निबंध प्रकाशित होने लगे : अगस्त १९१० के 'इंदु' (कला १ किरण २ भाद्र १९६७) में 'ग्राम' नाम की उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई, हिंदी में कथा साहित्य के एक नये युग की स्थापना हुई। काव्य की नवीन शैली के सर्वश्रेष्ठ कवि ही नहीं उन्हें उसका प्रजापति कहा जा सकता है। हिंदी के महिमामंडित सर्वश्रेष्ठ नाटककार और मौलिक कहानीकार के रूप में साहित्य को उनकी देन अमर है।

उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी लेखनी के पारस ने हिंदी-साहित्य के जिस विषय को जहाँ भी स्पर्श किया वह मिट्टी से सोना बन गया। भारतीय जीवन-दर्शन और चिंतन की परंपरा में वे मानवता के उज्ज्वल भविष्य और लोकमंगल-मूलक आदर्शों के क्रांतदर्शी-स्वप्नद्रष्टा और अग्रदूत थे। हिंदी-साहित्य में प्रसादजी की लेखनी के द्वारा आस्था और आत्मवाद के जिस नये युग का प्रवर्तन हुआ—**छायावाद**—उसी की एक सुषमाभिव्यक्ति है। कविकुल-गुरु कालिदास और भवभूति दोनों को मिला कर यदि व्यक्तित्व की को की जा सके तो वह 'प्रसाद' की उपमा बन सकती है।

उपन्यासों तथा खोजपूर्ण निबंधों का हिंदी जगत में बड़ा ऊँच, है जहाँ उनके चिंतन की प्रचुर सामग्री मिलती है। उन्होंने हिंदी-ज को जो मणि-कांचनमय विचार दिये हैं। उनका समुचित मूल्यांश आनेवाली शताब्दियों का दायित्व होगा।

—अंतेर

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य

इस नाट्य-रचना का आधार दो मंतव्यों पर स्थिर किया गया है; जिनके संबंध में हमें कुछ कहना है—पहला यह कि उज्जयिनी का पर-दुख भजक विक्रमादित्य, गुप्त-वंशीय स्कंदगुप्त था और दूसरा यह कि मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने 'रघुवंश' आदि काव्य बनाये।

स्कंदगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणों में सिद्ध होता है। शिप्रा से तुंबी में जल भरकर ले आने वाले, और चटाई पर सोनेवाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के ही साम्राज्य के खंडहर पर भोज के परमार पुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परंतु मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष संबंध है। हो सकता है कि आगे चलकर कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाय, परंतु हमें उनके लिए कोई आग्रह नहीं। इसलिए हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का कश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका दिया काश्मीर-राज्य वह छोड़ देता है, और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिए इस नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है। बंधुवर्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्ति, भीमदर्मा (इसका शिलालेख कौशांबी में मिला है) गोविंदगुप्त, आदि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

इसमें प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र है। स्त्रीपात्रों में स्कंद की जननी का नाम मैंने देवकी रखा है। स्कंदगुप्त के एक शिलालेख में—“हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत” मिलता है। संभव है कि स्कंद की माता के नाम—देवकी से ही—कवि को यह उपमा सूझी हो। अनंतदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप में मिलता है। यही पुरगुप्त स्कंदगुप्त के बाद शासक हुआ है। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र, दोनों हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल में संभावना है; तब भी ये कल्पित हैं। पात्रों की ऐतिहासिकता के बिना ऐतिहासिकता की सृष्टि—जहाँ तक संभव हो सका, नहीं होने दी गई है, फिर भी कल्पना का अवलंब लेना ही पड़ा—केवल घटना की परंपरा ठीक करने के लिए।

विक्रमादित्य

जिसके नाम से विक्रमीय संवत् का प्रचार है भारत के उस आबाल-वृद्ध-परिचित, प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते। इसके कई कारण हैं। इसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमीय संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। स्वयं मालव में अति प्राचीन काल से एक मालव संवत् का प्रचार था, जैसे 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये'—इत्यादि। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि गुप्तवंशीय प्रतापी द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसी ने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव संवत् के साथ अपनी 'विक्रम' उपाधि जोड़कर विक्रमीय संवत् का प्रचार किया।

परंतु यह मत निस्सार है; क्योंकि चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चंद्रगुप्त था, पर उपाधि विक्रमादित्य थी, उसने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिए आवश्यक था। चंद्रगुप्त द्वितीय के शकारि होने का हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। पर चंद्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलिपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में गुप्त संवत् व्यवहृत है, तब वह दो संवत्तों के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी—नाम नहीं था। इन्हीं के लिए 'कथासरित्सागर' में लिखा है—“विक्रमादित्यइत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके” सिकंदरसानी और आलम-गीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी उपाधि होती है उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी हो चुकता है। चंद्रगुप्त का राज्यकाल ३८५-४१३ ई० तक माना जाता है। तब, यह भी मानना पड़ेगा कि ३८५ के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है, जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशीय सम्राट् चंद्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख्तेबाही के शिलालेख का, जो गोंडोफोरस का है, काल १०३ ई० है। तत्कालीन इसाई कथाओं के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है उससे वह विक्रमीय संवत् ही ठहरता है। तब, यह भी स्थिर हो जाता है कि उस प्राचीन काल में, शक संवत् के अतिरिक्त, एक संवत् का प्रचार था—और वह विक्रमीय था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव' शब्द का प्रयोग करते थे।

चंद्रगुप्त का शकविजय

कहा जाता है, गुप्तवंशीय सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र के पश्चिमीय क्षत्रपों को पराजित किया, जो शक थे। इसलिए यही चंद्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसी के सिक्के नहीं मिलते; इसलिए यह माना जाता है कि इसी चंद्रगुप्त ने रुद्रसिंह की पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर, बात कुछ दूसरी है। चंद्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक नाम रुद्रदेव^१ भी है। संभवतः यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का भी क्षत्रप था। तब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चंद्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चंद्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और यमुना के पश्चिमी-तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा में राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया। तात्पर्य, कुछ लोगों से उपहार लिया, कुछ लोगों को उनके सिंहासनों पर बिठला दिया, कुछ लोगों से नियमित 'कर' लिया, इत्यादि। चंद्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था, वस्तुतः वे सब शासन में स्वतंत्र थे। तब कैसे मान लिया जाय कि सौराष्ट्र और मालव में शकों को चंद्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चंद्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता। गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, वे भारत के प्रधान सम्राट् माने जाने लगे। पर स्वयं चंद्रगुप्त का समकालीन नरवर्म्म (गंगधर के शिलालेख में) और वह भी मालव का, स्वतंत्र नरेश माना जाता है। फिर मालव-चक्रवर्ती उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य और सम्राट् चंद्रगुप्त, जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते हैं; चंद्रगुप्त का समय ४१३ ई० तक है। इधर मुंदसोर वाले ४२४ ई० के शिलालेख में विश्ववर्म्म और उसके पिता नरवर्म्म स्वतंत्र मालवेश हैं। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता, जैसा कि पिछले शिलालेख में — जो ४३७ ई० का है — कुमारगुप्त का उल्लेख है — “वनांत-वांतस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति”। इससे यह सिद्ध हो जाता

१ — रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म्म-गणपतिनाग-नागसेनाच्युतनन्दि - बलवर्म्म धनेकाऽर्यावर्त्तराज - प्रसभोद्धरणोद्धृत - प्रभावमहत्: परिचारकीकृतसर्वाटविक-राजस्य। कुमारामात्य हरिषेण द्वारा रचित और महादण्डनायक तिलभट्ट द्वारा अनुष्ठित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में इलाहाबाद स्तंभलेख की इक्कीसवीं पंक्ति : भंडारकर सूची सं० १५३८। (सं०)

है कि चंद्रगुप्त का संपूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनीनाथ नहीं थे, उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी। तब, उनके पहले एक विक्रमादित्य ३८५ से पूर्व हुए थे। हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। 'गाथा सप्तशती' एक प्राचीन गाथाओं का संग्रह 'हाल' भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवीय सन् की पहली शताब्दी है। महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद ने अभिनंद के रामचरित से हालेनोत्तम पूज्याकविबृषः श्रीपालितो लालितः व्याति कामपि कालिदास कथयो नीता शकारातिना—उद्धृत करते माना है कि श्रीपालित ने अपने राजा 'हाल' के लिए यह 'गाथा सप्तशती' बनाई। इसमें एक गाथा पाँचवें शतक की है।

संवाहण मुहुरस तोसिएण वेन्तेह तुहकरे लखम्
चलणेण विक्रमावित्त चरितं अणु सिक्खअंतिस्सा ॥६४॥

ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने का यह एक प्रमाण है। जैन-ग्रंथ कालकाचार्य-कथा में उज्जयिनी-नाथ विक्रम का मध्यभारत के शकों को परास्त करना लिखा है। प्रबंधकोष में लिखा है कि महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य हुए। भारत की परंपरागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गंधर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के राजकुलों का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअरवंश—पांडव वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत् प्रचारक विक्रम और जर्जपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' में दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कमायूँ के पहाड़ी राजा शुक्रवंत ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मार कर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान् स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसी के लगभग घुसे।

Branches of the Barbarian stream which penetrated the Indian passes, deposited settlements at Taxila in the Punjab and Mathura on the Jamuna.

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after Christ pushed on-southwards and occupied the peninsula of Sourashtra or Kats hiawar, founding a 'saka' dynasty which lasted until it was destroyed by Chandragupta Vikramaditya about A. D. 390. The Satraps of Mathura were closely connected with those of Taxila and belong to the same period about 50 B. C. or later.

पिछली शक-शाखा के संबंध में, जो सौराष्ट्र गई, यह कहा जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया, पर वास्तव में ३८५ ई० तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय में ३८२ ई० तक के शक सिक्के मिलते हैं। बाद के सिक्के बिना संवत् के हैं। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहाँ प्रचलित हुए। तात्पर्य, उक्त समुद्रगुप्त के समय ३८५ ई० के पूर्व ही सौराष्ट्र की शक-शाखा का ह्रास हुआ। चंद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ३८० ई० मानते हैं। परंतु उसका सबसे पहला शिलालेख उदयगिरि का गुप्त संवत् ८२ (ई० ४०१) का मिलता है। सौराष्ट्र के जो सिक्के चंद्रगुप्त के माने जाते हैं वे गुप्त संवत् ९० (ई० ४०९) के हैं, इसके पहले के नहीं। शक क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय ३११-३८९ ई० है। अच्छा, इन सिक्कों के बाद (३८९ से लेकर ४०९ ई०) २० वर्ष तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चंद्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौराष्ट्र-विजय ४०९ ई० से पहले का नहीं हो सकता (जब के उसके सिक्के हैं) फिर इधर उदयगिरि वाला लेख भी ई० ४०१ के पहले का नहीं है। तब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ४०० ई० के समीप होगा। परंतु ३८९ ई० तक के शक-क्षत्रपों के सिक्कों के मिलने के कारण चंद्रगुप्त को ही शकारि विक्रमादित्य प्रमाणित करने के लिए चंद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ३८५ या ३८० ई० में मान लिया जाता है जिसमें सौराष्ट्र-विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव में समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओं की नामावली में रुद्रदेव का भी उल्लेख है और यह रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों में रहा होगा। चंद्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसा कि उसके उदयगिरि वाले शिलालेख से स्पष्ट है परंतु उसके शासन-काल में मालव स्वतंत्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौराष्ट्र स्वतंत्र राष्ट्र गिने जाते थे। गंगधार और मंदसौर के दोनों शिलालेखों को देखने से सूचित होता है कि नरवर्मा और विश्ववर्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुमारगुप्त के समय में बंधुवर्मा ने संभवतः ४२४-४३७ ई० के बीच गुप्तसाम्राज्य के अधीन होना स्वीकार किया।

चंद्रगुप्त के शक-विजय का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है “अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तः शकनरपतिं अशतयत्।” यह शक विजय किस प्रांत में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नहीं, पर कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से ४०० ई० के समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चंद्रगुप्त ने किया। जब, आंध्र राजाओं से लड़-झगड़ कर वे शक क्षत्रप स्वतंत्र

हो गये थे और चंद्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतंत्र शकों को पराजित करने के लिए जिस उपाय का अवलंबन किया था उसका उल्लेख 'कथा सरित्सागर' की चौथी तरंग से भी प्रकट है। (अवलोक्य 'ध्रुवस्वामिनी' एकांकी। सं०)

मथुरा के शक-शासकों का नाश, जो शकों की पहली शाखा के थे किसने किया—इस संबंध में इतिहास चुप है। राजुबुल, षोडाश और खरंओष्ठ नाम के तीन शक नरेशों के ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। षोडाश ने आर्य-शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीनकर शक-राज्य प्रतिष्ठित किया था। 'राजावली' में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवंत से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवंत संभवतः विदेशी षोडाश का ही विकृत नाम है, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद उस प्रांत में उन शकों का शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों को पराजित करने वाला वही विक्रमादित्य हो सकता है—जो ईसवीय पूर्व पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास में भट्टियों का वर्णन यहाँ बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत् ७२ में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य एशिया की क्रांतियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शालिवाहनपुर (शालपुर या शाकल) नाम की राजधानी बसाई। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का समय ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता वही शालिवाहन था, जिसके संबंध में 'भविष्य पुराण' में लिखा है—

एतस्मिन्नंतरे तत्र शालिवाहन भूपतिः ।

विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान् ॥

कुछ लोग 'पौत्रश्च' अशुद्ध पाठ के द्वारा भ्रांत अर्थ निकालते हैं जो असंभव है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करने वाला शालिवाहन विदेशी था। प्रबंध चिंतामणि में भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन एक शक था। संभवतः उसी ने शक-राज्य की स्थापना की और शक-संवत् का प्रचार किया ! इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की बात कही जाती है; वह पार्थियानरेश 'मिथाडोटस' का पुत्र 'फराटस' द्वितीय रहा होगा।

उस काल में युवेची, पार्थियन और शकों में भयानक संघर्ष चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर राबी एवं चनाब के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथाडोटस द्वितीय आदि के शासनकाल में

भारतवर्ष का उत्तर-पश्चिमीय भू-भाग बहुत दिनों तक इन्हीं शकों के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक और कभी युवेची जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय में मालवों को पराजित कर के शकों ने पंजाब में अपने राज्य की स्थापना की थी। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहाँ उस राष्ट्र का संबंध है जो पाणिनि के समय में मालव-क्षुद्रकगण कहे जाते थे, और सिकंदर के समय में "Malloi and Azodrapai" के नाम से अभिहित थे।

इस प्राचीन मालव की सीमा पंजाब में थी। विक्रमादित्य और शकों का प्रथम कहलूर-युद्ध मुलतान से ५० मील दक्षिण-पूर्व में हुआ, और शालिवाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। संभवतः वर्तमान मालव देश उसी काल में मिलाया गया और जहाँ पर इन मालवों ने शकों से पराजित होकर अपनी नई राजधानी बसाई वह मंदसौर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन की इस विजय के बाद उसी के वंश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये, और वे पश्चिमीय-क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चण्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयंती ले गये। नहपान को कुतलेष्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शकों की सत्ता सातकर्णि ने उठा दी और 'कालाप' व्याकरण के प्रवर्तक शर्ववर्मा को वहाँ का राज्य दिया। शालिवाहन के सेना-पतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया। उत्तरी भारत में आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे इसलिए उज्जयिनी में वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ़ किया और नवीन मानव जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं - शीघ्र स्वतंत्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत् का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य—गंधर्वमेन का पुत्र मालवगण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरा वाली शक-शाखा का नाश किया, और दिल्ली का उद्धार करके जैत्रपाल को वहाँ का राज्य दिया।

संवत् १६९९ अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की प्राचीन प्रति से जो पं० केशव प्रसाद जी मिश्र (भदनी, काशी) के पास हैं, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है—

"आर्ये रसभाववशेषु दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्य साहसिकस्याभिरूप भूयिष्ठेयं परिपत् अस्यां च कालिदास प्रद्युक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलम् नाम्नानवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

“भवतु तवबिडौजाः प्राण्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि वितत यज्ञो वज्रिणं भावयेथा ।

गण शत परिवर्त्तेरेवमन्योन्य कृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहस्लाघनीये” ॥

इनमें नीचे रेखा किये हुये दोनों शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकलती हैं । पहली यह है कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुंतल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और ‘साहसांक’ इसकी उपाधि है । दूसरे भरत वक्त्र मे ‘गण’ शब्द के द्वारा इंद्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गण राष्ट्र दोनों की ओर कवि का संकेत है । इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई संबोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है । तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् राजा । कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं । हो सकता है इसी के एकाधिपत्य से मालवगण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित हुए हों ।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था, वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था । उमने स्त्रीवेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला । पर, पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्मा और विश्ववर्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतंत्र नरपति-नाम सौराष्ट्र के शकों के मिलते हैं । इसके लेख आकर, उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते हैं । जैसा विक्रमादित्य का चरित्र है, उसके विरुद्ध इसके संबंध में कुछ गाथायें मिलती हैं । अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर किसी शक-नरपति को मार कर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी । यह असली विक्रमादित्य के बराबर अपने को समझता था ।

‘कथा सरित्सागर’ और ‘हर्षचरित’ से लिये गये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय किसी छल से मिली थी । तुआर (शिवप्रसाद के मतानुसार पंवार) या मालवगण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य चंद्रगुप्त था, जिसका समय ३८५ (४००?) से प्रारंभ होकर ४१३ ई० तक था ।

कुछ लोगों का मत था कि मालव का यशोधर्म देव तीसरा विक्रमादित्य था, परंतु जिन “राजतरंगिणी” से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है, उसमें यशोधर्म के साथ विक्रम शब्द का कोई उल्लेख नहीं है । उसके शिलालेखों, सिक्कों में भी इसका नाम नहीं है । यशोधर्म के जयस्तंभ से हूण मिहिरकुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परंतु यह शकारि

नहीं था। यह अनुमान भी भ्रांत है कि इसी यशोधर्मदेव ने मालव-संवत् के साथ विक्रम नाम जोड़कर विक्रम-संवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसी के अनुचरों के शिलालेख में मालवगण-स्थिति का स्पष्ट उल्लेख है—

पंचसु शतेसु शरदां यातेष्वेकाग्रनवति सहितेषु ।

मालवगण स्थिति वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु ॥

अलबेरुनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परंतु वही अपनी पुस्तक में दूसरी जगह कहरूर युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से संवत् प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मानकर अपनी भूल स्वीकार करता है। डाक्टर हार्नेली और स्मिथ कहरूर युद्ध के समय में मतभेद रखते हैं। हार्नेली उसे ५४४ में और स्मिथ ५२८ ई० में मानते हैं। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धों की रंगस्थल है—जैसा कि पिछले काल में पानीपत। शकों और हूणों के आक्रमण काल में प्रथम विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त और यशोधर्म ने वहीं विजय प्राप्त की। अलबेरुनी ने पिछले युद्ध का ही विवरण सुनकर अपने को भ्रम में डाल दिया। जिन लोगों ने यशोधर्म देव को 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे 'राजतरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में देते हैं—

“उज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षपराभिधः एकच्छत्रश्चक्रवर्त्ती विक्रमादित्य इत्यभूत्”

इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डालकर असंभावित अर्थ किया जाता है। पर, हर्ष विक्रमादित्य से यशोधर्म का क्या संबंध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष-विक्रमादित्य के लिए कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया। परंतु इतिहास में पाँचवीं और छठीं शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा के उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनों के बाद ईसवी सन् ९७० के समीप मालव में श्रीहर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार उक्त हर्ष-विक्रमादित्य का काल वही है जब काश्मीर में गांधार वंश का 'तोरमाण' युवराज था। तोरमाण के शिलालेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके पिता तुंगीन वा प्रवरसेन का समकालीन स्कंदगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य कि लेखक प्रमाद से 'राजतरंगिणी' में हर्ष का उल्लेख हो गया हो, और शुद्ध पाठ “श्रीमान् स्कंदोपराभिधः” हो। क्योंकि इसी तोरमाण ने ५०० ई० में गुप्त-वंशीयों से मालव ले लिया था, तब मातृगुप्त वाली घटना ५०० ई० के पहले की है। जो लोग यशोधर्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि मिहिरकुल को पराजित करने में यशोधर्म और नरसिंहगुप्त-बालादित्य दोनों का हाथ था, परंतु यह भी भ्रम है। नरसिंहगुप्त ५२८ या ५४४ ई० तक जीवित नहीं थे। यशोधर्म का समकालीन बालादित्य द्वितीय हो सकता है।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्म कल्कि थे ।^१ कल्किपुराण (जीवानन्द संस्करण) में लिखा है—

प्रसीद जगतां नाथ धर्मवर्म्म रभापते ॥ अध्याय ३ ॥

मुने किमत्र कथनं कल्किना धर्मवर्म्मणा ॥ अध्याय ४ ॥

तब 'राजतरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है कि यशोधर्मदेव ने पहले विक्रमादित्य हुए थे—

स्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः ।

शकान्विनाश्य येनादौ कार्यं भारो लघुकृतः ॥ तरंग ३ ॥

भावी कल्कि यशोधर्म के कार्य-भार को लघु कर देने वाले विक्रमादित्य उनसे साठ वर्ष पहले ही हुए थे, और वह थे—श्रीविक्रमादित्य स्कंदगुप्त । इस तरह 'राजतरंगिणी' के "श्रीमान् हर्षपराभिधः" के शुद्ध पाठ से "श्रीमान् स्कंदपराभिधः" की संगति भी लग जाती है ।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के संबंध में 'कथासरित्सागर' का विषम-शील लंबक सविस्तार वर्णन करता है । उज्जयिनीनाथ (महेंद्रादित्य) का पुत्र यह विक्रमादित्य 'स्लेच्छाक्रांते च भूलोके' उत्पन्न हुआ और इसने—

‘मध्यदेशः स सौराष्ट्रः स बङ्गाङ्गा च पूर्व दिक्

स काश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता

स्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे”

इतिहास में सम्राट् कुमारगुप्त की उपाधि महेंद्रादित्य सिद्ध है । इसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत मङ्गराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेंद्रादित्य' स्पष्ट लिखा मिलता है । इसी के समय में मालव के स्वतंत्र नरेश विश्ववर्म्म के पुत्र बंधुवर्म्म ने अधीनता स्वीकार कर ली । विक्रमाब्द ४८० तक—गंगधार के शिलालेख द्वारा मालव का स्वतंत्र रहना प्रमाणित है; परंतु ५२९ विक्रमाब्द वाले मंदसौर के शिलालेख में ४९३ विक्रमीय में कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मान ली गई ।^२ इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ । चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्म और विश्ववर्म्म मालव के

१—कल्कि संबंधिनी इस मान्यता के आधार पर पूज्य पिता जी ने पाँच अंकों का एक बृहत् नाटक "यशोधर्म" लिखा था, वह प्रकाशित होने भी जा रहा था । किंतु तथ्यों के पुनरावलोकन एवम् अपने स्वतंत्र अन्वेषण से इस मत के सारहीन सिद्ध होन पर उक्त नाटक की पांडुलिपि को उन्होंने स्वयमेव नष्ट कर दिया । (सं०)

२—पंक्ति संख्या १९ एवम् २१ भांडार कर सूची संख्या ६ (सं०)

१२/स्कंदगुप्त विक्रमादित्य

स्वतंत्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निरुदवर्त्ती पुष्यमित्रों ने जब गुप्त-साम्राज्य से युद्ध प्रारंभ किया था तभी कुमार स्कंदगुप्त के नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार किया। इन्हीं स्कंदगुप्त का सिक्कों में “परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त” के नाम से उल्लेख मिला है। इनके शिलालेख से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छों और हूणों से आर्यावर्त्त आतंकित था। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए इन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं। हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई, जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहाँ का शासक नियत किया - वे स्कंदगुप्त ही थे। जूनागढ़वाले लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख है। स्कंदगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है -

“अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोऽप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु”

पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने ‘सुदर्शन झील’ का संस्कार कराया था, इससे अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवीय सन् ४५७ के करीब हुई थी। स्कंदगुप्त को सौराष्ट्र के शकों और तोरमाण के पूर्ववर्त्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमातृक भाई पुरगुप्त से आंतरिक द्वंद्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिए प्राचीन राजधानियों पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर एक केंद्र स्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इसलिए वर्तमान मालव की मौर्यकाल की अवन्ती नगरी को ही स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य का केंद्र बनाया और शकों तथा हूणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूणों तथा शकों का राज्य निर्मूल कर ‘विक्रमादित्य’ की उपाधि धारण की।

‘विक्रमादित्य’ उपाधि के लिए शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य था। पिछले काल में इसीलिए विक्रमादित्य का एक पर्याय ‘शकारि’ भी प्रचलित था और स्कंदगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है परंतु यशोधर्म के समय में शकों का राज्य कहीं न था। यही बात ‘राज-तरंगिणी’ के ‘शकान्विनाशय येनादौ कार्य भारो लघूकृतः’ से भी ध्वनित होती है। मंदसौर वाले स्तंभ में यशोधर्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है, हूणों के विजय का है। मंदसौर के यशोधर्म के विजय-स्तंभ का भी वही समय है जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का है। गोविंद की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियाँ हैं। उसका समय ५३२ ई० का है। मिहिरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त जयस्तंभ से प्रतीत होती है। मिहिरकुल ५३२ ई० के पहले पराजित हो चुका था, तब वह कौन-सा युद्ध

५४४ में हुआ था - यह नहीं कहा जाता - जिसके द्वारा यशोधर्म के 'विक्रम' होने की घोषणा की जाती है; इसीसे हार्नली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म द्वारा मिहिरकुल के पराजित होने का काल ५२८ ई० माना है। परंतु, वे इस युद्ध को 'कहलूरयुद्ध' कहकर संबोधित नहीं करते। कहलूर-युद्ध ५४४ में नहीं हुआ जैसा कि फर्गुसन, कोलहार्न, हार्नली आदि का मत है प्रत्युत पहले बहुत पहले ४५७ ई० के समीप, दूसरी बार हो चुका है। संभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूण तुंजीन की सम्मिलित वाहिनी को 'कहलूर-युद्ध' में पराजित कर स्कंदगुप्त ने आर्यावर्त की रक्षा की थी। अच्छा, जब ५२८ ई० में मिहिरकुल पर विजय निश्चित-सी है तब 'कहलूर-युद्ध' के ऊपर विक्रमादित्य को यशोधर्म माननेवाला सिद्धांत निर्मूल हो जाता है, क्योंकि ५३२ के विजय-स्तंभ तथा शिलालेख में बालवर्गण-स्थिति का उल्लेख है - विक्रम-संवत् का नहीं, और ५३२ के पहले ही यशोधर्म हूण-विजय करके सम्राट् आदि पदवी धारण कर चुका था; फिर ५४४ ईसवी के किसी काल्पनिक युद्ध की आवश्यकता नहीं है।

'राजतरंगिणी' और 'सुंगयुन' के वर्णन मिलाने पर प्रतीत होता है कि हूणों का प्रधान केंद्र गांधार था। वहीं से हूण-राजकुमार अपनी विजयिनी सेना लेकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य-स्थापन करने गये। राजतरंगिणी का क्रम देखने से तीन राजाओं का नाम आता है - मेघवाहन, तुंजीन और तोरमाण। गांधार के मेघवाहन के समय में काश्मीर उसके शासन में हो गया था। उसके पुत्र तुंजीन ने काश्मीर की सूबेदारी की थी। यही तुंजीन प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने झेलम पर पुल बनवाया। 'सेतुबंध' नामक प्राकृत-काव्य इसी के नाम से अंकित है। गांधारवंशीय हूण तुंजीन का समय और स्कंदगुप्त का समय एक है क्योंकि उनके पुत्र तोरमाण का काल ५०० ई० स्मिथ ने सिद्ध किया है। संभवतः स्कंदगुप्त के द्वारा हूणों के काश्मीर राज्य से निकाले जाने पर मातृगुप्त वहाँ का शासक था। यह उज्जयिनी-नाथ, कुमारगुप्त-महेंद्रादित्य का पुत्र स्कंदगुप्त-विक्रमादित्य ही था जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और काश्मीर तथा सीमा-प्रांत से हूणों का राज्य-ध्वंस किया और सनातन आर्य-धर्म की रक्षा की ग्लेच्छों से आक्रांत भारत का उद्धार किया। 'भितरी' के स्तंभ में अंकित - "जयतिभुजबलाढ्यो गुप्तवंशकबीरः। प्रथित विपुलवामा नामतः स्कंदगुप्तः। विनयबलमुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण" से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कंदगुप्त-विक्रमादित्य ही द्वितीय 'कहलूर-युद्ध' का विजेता - 'तृतीय-विक्रम' है।

पिछले काल के स्वर्ण के सिक्कों को देखकर लोग अनुमान करते हैं कि उसी के समय में हूणों ने फिर आक्रमण किया और स्कंदगुप्त पराजित हुए। वास्तव में ऐसी बात नहीं। तोरमाण के शिलालेखों के संवत् को देखने से यह

विदित होता है कि स्कंदगुप्त पहले ही निधन को प्राप्त हुए, और दुर्बल पुरगुप्त के हाथों में पकड़कर तोरमाण के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस किया गया और गोपाद्रि तक उसके हाथ में चले गये।

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा संबंध है कि एक का समय-निर्धारण करने में दूसरे की चर्चा आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि ५७ ईसवीय पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए और दूसरे विक्रमादित्य का समय ३८५ (४०० ?) ईसवी से ४१३ ईसवीय तक है। इनका संपूर्ण नाम श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट् थे। संभवतः इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनाई थी। गुप्त राजवंश के अंतर्कलह का निवारण करने के लिए और हूणों तथा शकों से प्रायः मुठभेड़ रहने के कारण इन्हें मगध और कोसल छोड़ना पड़ा। कालिदास के संबंध में भी राजशेखर का एक श्लोक जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' और हरिकवि की 'सुभाषितावली' में मिलता है—

“एकोपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्
भृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु”

एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुए, राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परंतु वर्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास दो तो अवश्य हुए हैं एक 'रघुवंश' शाकुंतल' आदि के कर्त्ता, और दूसरे 'नलोदय' तथा 'पुष्पवाण-विलास' आदि के रचयिता।

यह विभाग साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से किया गया है शृंगार-तिलक जैसे माधारण ग्रंथों को महाकवि कालिदास की कृति ये लोग नहीं मानना चाहते इसलिए एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिए कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुंतल' और 'रघुवंश' के कर्त्ता, चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में हुए। इनका मत है कि “आसमुद्रक्षितीशानाम” “इदं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यैः” “ज्योतिष्मतीचन्द्रमसैव रात्रिः” इत्यादि स्थानों में 'इंदु' और 'चंद्र' शब्दों से समुद्रगुप्त के वंशधर चंद्रगुप्त द्वितीय की ओर कालिदास का संकेत है और इसलिए महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इधर परांजपे आदि विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र'

में शुंगों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है, जैसा कि उस काल में बहुत ही थोड़े समय के पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को ५७ ईसवीय पूर्व का मानते हैं। और भी कई विद्वान् इसके समर्थक हैं।

काव्यों में ज्योतिष संबंधी जामित्र और होरा आदि ज्योतिष शास्त्र संबंधी शब्दों को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि 'रघुवंश' आदि के रचयिता कालिदास छठीं शताब्दी में रहे होंगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ को भी—ज्योतिष संबंधी गणनाओं के अनुसार—अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रंथ भी छठीं शताब्दी का है; इसलिए इन ग्रंथों के रचयिता कालिदास छठीं शताब्दी में उत्पन्न हुये और वे यशोधर्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के संबंध में तीन सिद्धांत प्रचलित हैं—

(१) ५७ ईसवीय पूर्व में मालव में कालिदास हुए।

(२) ईसा के चौथे शतक में चंद्रगुप्त द्वितीय मगधनरेश के समकालीन कालिदास थे।

(३) मालव नरेश यशोधर्मदेव के सभासद थे।

'शृंगार निलक' आदि ग्रंथों के कर्त्ता कालिदास को प्रायः सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का—संभवतः नवम् या दशम् शताब्दी का मानते हैं। हम महाकवि कालिदास के संबंध में ही विवेचन करना चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इसलिये नहीं मानते कि उनका वहीं ऐतिहासिक उल्लेख उन लोगों को नहीं मिला, और विक्रम-संवत् प्राचीन शिलालेखों में मालवगण के नाम से प्रचलित है। परंतु ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव में ५७ ई० पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न मानने वाले विद्वानों ने विक्रमादित्य को 'चंद्रगुप्त द्वितीय' कहकर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवंश' में जो संकेत से गुप्तवंशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी संगति इस प्रकार लगाई गई। परंतु आश्चर्य की बात है कि चंद्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिए जो अवतरण दिये गये हैं उनमें चंद्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख है नहीं, हाँ कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब संकेत भी गुप्तवंशियों के ही संबंध में मान लिए जायें, तो यह समझ में नहीं आता कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि ने भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया। जब कि गुप्तवंश में उत्तराधिकार का नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो, समुद्रगुप्त अपनी योग्यता से ही युवराज हुए और चंद्रगुप्त

भी. तब रघुवंश में कुमार और उसके बाद स्कंदगुप्त का वर्णन कैसे आया ? चंद्रगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य का यौवनकाल था, फिर अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखाकर 'रघुवंश' का अंत—चंद्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास—कैसे लिख सकते हैं ? वास्तव में रघुवंश की सी दशा गुप्तवंश की हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी विलासी और हीन बंभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था, और तब रघुवंश की रचना की थी।

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी के कालिदास के लिए भी उधर प्रमाण मिलते हैं। इसलिए यह समस्या उलझती जा रही है, इसका मूल कारण है—एक ही कालिदास को काव्य और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाटककार कालिदास भिन्न-भिन्न थे और नलोदय आदि के कर्त्ता कालिदास अंतिम और तीसरे थे। इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है। और, सब पक्षों के प्रमाणों की संगति भी लग जाती है। यद्यपि 'शकुंतला' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत ही प्राचीन है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रंथ-रत्नों का कर्त्ता एक कालिदास को न मानने से थड़ा बँट जाने का भय इसमें बाधक है। परंतु पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह बात ठीक ही ज़चेगी। हम ऊपर कह आये हैं कि कालिदास तीन हुए; परंतु जो लोग दो ही मानते हैं, वे ही बता सकते हैं कि प्रथम कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम नाटक तथा काव्य बना डाले, अब वह कौन-सी बची हुई कृति है जिस पर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि मिली ? क्योंकि यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उनका नाम कालिदास था। जैसी प्रायः किसी वर्तमान कवि को, उसकी शैली की उत्तमता देखकर किसी प्राचीन उत्तम कवि के नाम से संबोधित करने की प्रथा-सी है। अस्तु ! हम नाटककार कालिदास को प्रथम और ईसा पूर्व का कालिदास मानते हैं। कारण—

(१) नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशी किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

(२) 'रघुवंश' आदि असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से भरा साहित्य है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शांति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिंधु-तट पर विदेशी यवनों का हराया

जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था। 'शकुंतला' में हस्तिनापुर के सम्राट् 'वनपुष्प-माला-धारिणी' यवनियों से सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह संभवतः उस प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस-कन्या से चंद्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य और उसके बाद शुंग-वंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीत-दासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ईसा पूर्व पहली शताब्दी में रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे। क्योंकि शकुंतला में धीवर के मुख से कहलाया है—“पशुमारणकम्मं वारणोप्यनुकम्पा मूढुरेव भोत्रियः”—और भी—“सरस्वती भूतिर्महती न हीयताम्” इन शब्दों पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिये हैं, उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।

(३) नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण के राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

(४) 'जामित्र और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ, नाटक में नहीं पाये जाते। और 'शाकुंतल' की जिस प्रति का हम उल्लेख कर चुके हैं उसमें स्पष्टरूपेण विक्रमादित्य से गणराष्ट्र का संबंध संकेतित है, और कालिदास का उस नाटक का स्वयं प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसांक' उपाधिकारी विक्रमादित्य नाम के मालव-गणपति की परिषद् में हुआ था। इसलिए नाटककार कालिदास ईसा पूर्व पहली शताब्दी के हैं।

(५) नाटकों की प्राकृत में मागधी-प्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैंकड़ों वर्ष पीछे कहाँ था? पाँचवीं-छठी शताब्दी में महाराष्ट्री प्राकृत प्रारंभ हो गई थी और उस काल के ग्रंथों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुंतल' आदि की प्राकृत में बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।

इसलिए नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य प्रथम (मालवपति) के समय—ईसा पूर्व पहली शताब्दी में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। वे काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-विद्योत का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो बिल्हण को यह लिखने का साहस न होता—

“सहोदरा कुंकुमकेसराणां सार्धन्तनूनं कविताविलासा ।

न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मयाप्ररोहः॥”

पाँच सौ वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम बाहु चरित्र' में इसका उल्लेख है कि सिंहल के राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) से कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहाँ बुलाया। (महावंश के अनुसार इनका राज्यकाल ५११ से ५२४ ई० तक है) यह राजा स्वयं अच्छा कवि था। 'जानकी हरण' इसका बनाया हुआ ग्रंथ है।

“जामकी हरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदिक्षमः”
सोढल की बनाई हुई 'उदय-सुंदरी-कथा' में एक श्लोक है—

“ख्यातः कृती कोपि च कालिदासः/शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य/
बाष्पीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र/सिन्धोः परंपारमवाप कीर्तिः ।
बभूवुरन्येपि कुमारदासः” —इत्यादि ।

हमारा अनुमान है कि 'सिन्धोः परंपार' में कालिदास और कुमारदास के संबंध की ध्वनि है।

“ज्योतिर्विदाभरण” को बहुत से लोग ईसवीय छठीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं और हम भी कहते हैं कि वह ईसवीय पाँचवीं शताब्दी के अंत और छठीं के प्रारंभ होने वाले कालिदास की कृति है। नाटककार के पीछे भिन्न एक दूसरे कालिदास के होने का, और केवल काव्यकार का उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है।

काव्यत्रयं सुमतिकृद्भुवंशं पूर्वं, पूर्वं ततो ननु कियच्छ्रुतिकर्मवादः ।
ज्योतिर्विदाभरणं कालविधानशास्त्रं श्रीकालिदास कवितो हि ततो बभूव ॥”

इस श्लोक में छठीं और पाँचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता मानते हैं, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इसलिये यह दूसरे कालिदास नृपसखा कालिदास या दीपसखा कालिदास कहिये—पाँचवीं छठीं शताब्दी के कालिदास हैं। 'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेषः' वाली किंवदंती भी यही सिद्ध करती है कि काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि हुई परंतु वास्तविक नाम क्या था?

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य/१९

‘राजतरंगिणी’ में एक ‘विक्रमादित्य’ का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य ‘मातृगुप्त’ नाम के कवि को दे दिया था। डाक्टर भाउ-दाजी का मत है कि यह मातृगुप्त ही कालिदास हैं। मेरा अनुमान है कि यह मातृ-गुप्त कालिदास तो थे, परन्तु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन मातृगुप्त और विक्रमादित्य—ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठीं शताब्दी के माने जाते हैं।

महाराष्ट्री भाषा का काव्य ‘सेतुबंध’ (बह मुह बह) प्रवरसेन के लिये कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम कह आये हैं कि मातृगुप्त का वही समय है जो काश्मीर में प्रवरसेन का है। इसका नाम ‘तुंजीन’ भी था। संभवतः इसी की सभा में रहकर कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह अपनी पहली कृति बनाई, क्योंकि उस समय प्राकृत का प्रचार काश्मीर में अधिक था और यह वही प्राकृत है, जो उस समय समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत थी, इसलिए इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का बिचार है कि यह काव्य कालिदास का नहीं है क्योंकि पहले विष्णु की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है, परन्तु यह तर्क निस्सार है। कारण, ‘रघुवंश’ में विष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और ‘सेतुबंध’ में तो स्पष्ट रूप में लिखा मिलता है कि “इ अ सिरि पवर सेण विरइए कालिदास कए” जब यह काव्य प्रवरसेन के लिए बनाया गया तो यह आवश्यक है कि उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने जय-स्वामी नामक विष्णु की मूर्ति बनवाई थी। वस्तुतः कालिदास के लिए शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आते हैं शाकुंतल के प्राकृत से सेतुबंध की प्राकृत अत्यंत अर्वाचीन है इसलिए उसे काव्यकार कालिदास का मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। कालिदास के संस्कृत-काव्यों तथा इस महाराष्ट्री काव्य में कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिये।

वंदेहि पश्यामलयाद्विभक्तंमत्सेतुनाफेनिलमबुराशिम्—(रघुवंश)
 दीसई सेउ महा वह बोहाइअ पुब्ब पच्छिम विसा भाअम्—(सेतुबंध)
 छाया पथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृत चास्तारम्—(रघुवंश)
 मलअमुबेलालगो पडिटिठओ णहणि हम्मिसागर सलिले—(सेतुबंध)
 रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्—(मेघदूत)
 णिअअच्छाआवइ अरसामलइअसाअरोअर जलद्धंतं—(सेतुबंध)

ऐसा जान पड़ता है किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त (कालिदास) में अनबन हो गई, और उसे राजसभा तथा कश्मीर को छोड़कर मालव आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशो-

धर्मदेव विक्रमादित्य नहीं थे। फिर संभवतः इन्हें स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पड़ेगा। क्योंकि तुंजीन और तोरमाण के समय में काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिये यह मिलता भी है कि उसने “सकाश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता”। यह स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की ही वदान्यता थी कि काश्मीर विजय करके उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री हुएत्सांग ने लिखा है कि कुमारगुप्त की सभा में दिङ्नाग के दादागुरु मनोरथ को हराने में कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय ४५५ ई० तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य बसुबन्धु का शिष्य दिङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। संभवतः उसी का प्रतिकार “दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्” से किया गया है क्योंकि प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ भी इसको मानते हैं। दिङ्नाग का गुरु बसुबन्धु अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद् था। बौद्ध विद्वान् परामर्श ने उसकी जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यलंकारसूत्र-वृत्ति के अधिकरण ३ अध्याय २ में साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुये एक श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है—

“सोऽयं सम्प्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्टया कृतार्थश्रमः”

“आश्रयः कृतधियामित्यस्य बसुबन्धु साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्”। यह अयोध्या के विक्रमादित्य चंद्रगुप्त का तनय चंद्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। बसुबन्धु के गुरु मनोरथ का अंत और उसका सभा में पराजित होना स्वयं बौद्धों ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष से दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वंद्वी बना। तब, यह मान लेने में कोई श्रम नहीं होगा कि मातृगुप्त किशोरा-

१. विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्र के (कथा सरित्सागर)

यह द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये आया है। बौद्धों ने अयोध्या में इसकी राजधानी लिखा है। संभवतः मगध की साम्राज्य सीमा बढ़ने पर अयोध्या में सम्राट् कुछ दिनों के लिए रहने लगे हों, परंतु उज्जयिनी में इनका शासन होना किसी भी लेखक ने नहीं लिखा है। इनके पुत्र कुमारगुप्त ने ‘महोदय’ को विशेष आदर दिया; क्योंकि साम्राज्य धीरे-धीरे उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। वस्तुतः उस समय राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ गुप्त-सम्राट् लोग कुसुमपुर की प्रधानता रखते हुए सुविधानुसार अपने रहने का स्थान बदलते रहे हैं। क्योंकि उन्हें सैनिक केन्द्रों का बराबर परिवर्तन करना पड़ता था।

वस्था में कुमारगुप्त की सभा में थे। वही कालिदास—स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे, कुमारगुप्त का नामांकित एक काव्य भी—कुमारसंभव बनाया। यह बात तो अब बहुत से विद्वान् मानने लगे हैं कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवंश का व्यंजना से वर्णन है। हूणों के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसंभव में है। स्कंदगुप्त के भितरी वाले शिलालेख में एक स्थान पर उल्लेख है “क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा” तो ‘रघुवंश’ में भी मिलता है—

सललितकुसुमप्रवालशय्यां, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।

नरपति रतिवाह्यां वभूव क्वचिद् समेतपरिच्छद स्त्रियामाम् ॥

स्कंदगुप्त के शिलालेखों में जो पद्य रचना है, वह वैसी ही प्रांजल है जैसी रघुवंश की—‘व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र पुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं वरयांचकार’ इत्यादि में रघुवंश की सी ही शैली दीख पड़ती है। “स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्” इत्यादि में स्कंदगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है और कुमारगुप्त के तो बहुत उल्लेख हैं। रघुवंश के ५, ६, ७, सर्गों में तो अज के लिये कुमार शब्द का प्रयोग कम से कम ११ बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उनका अंतिम जीवन पराजय और दुःखों से संबंध रखता है। वस्तुतः चंद्रगुप्त के जीवन काल में साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त उसका ह्रास नहीं हुआ। यह स्कंदगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षड्यंत्रों, विपत्तियों तथा कष्टों का सामना करना पड़ा। जिस समय पुरगुप्त के अंतर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड़कर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाई, और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त किया गया। यह समय ईसवी सन् ४५० से ५०० के बीच पड़ता है। ४६७ ईसवी में स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का अंत हुआ। उसी समय मातृगुप्त (कालिदास) ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड़ दिया और काशी चले आये। अब बहुत से लोग इस बात की शंका करेंगे कि कहाँ उज्जयिनी, कहाँ मगध, कहाँ काश्मीर फिर काशी, और सबके बाद सिंहल जाना—यह बड़ा दूरान्वय—संबंध है। परंतु उस काल में सिंहल और भारत में बड़ा संबंध था। महाराज समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेजकर बोध गया में बिहार बनाने की प्रार्थना की थी; महावंश और समुद्रगुप्त के लेख में इसका संकेत है और महा-बोधि विहार सिंहल के राजकुल की कीर्ति है तब से सिंहल के राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोध-गया से लाया गया पटना म्युजियम में एक शिलालेख है—(नम्बर ११३) यह प्रमाण प्रख्यात

कीर्ति का है -- “लङ्काद्वीप नरेंद्राणां भ्रमणः कुलजोभवत् । प्रख्यातकीर्तिर्धर्मात्मा
स्थकुलांबर चन्द्रमा” । महानामन् के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है ।

“संयुक्तागमिनो विशुद्धरजसः सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्यायस्य सकृद्विचेरतुलालंकाचलोपत्यकां
तेभ्यः शीलगुणान्वितश्च शतशः शिष्याः प्रशिष्याः क्रमात्
जातास्तुंगनरेन्द्रवंशतिलकाः प्रोत्सृज्य राज्यश्रयम्”

जब, राजकुल के भ्रमण और राजपुत्र लोग यहाँ तार्थ-यात्रा के लिये
बराबर आते थे, और संस्कृत कविता का प्रचार भी रहा तब उस काल के
मर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा स्वाभाविक है । और, उस नष्टाश्रय
महंकवि के साथ मैत्री करने में अपने को धन्य समझने वाले कुमारदास की
कथा में अविश्वास का कारण नहीं है । यदि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर
दुखी होकर राजमित्र के पास इनका सिंहल जाना ठीक है, तो यह कहना होगा
कि ‘मेघदूत’ उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कंदराज प्रतिमा उनकी
आँखों से देखी हुई थी जिसका वर्णन उन्होंने “देवपूर्वगिरि ते” वाले श्लोक में
किया है । यदि ५२४ ईसवी तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो
उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भली-भाँति देखा अथवा सुना होगा । रघुवंश
में वैसा ही अंतिम पतनपूर्ण वर्णन भी है । कुमारदास का सिंहल का राजा उसी
काल में होता और सिंहल में कालिदास के जाने की ख़ुद उस देश में माना
जाना, उधर चीनी यात्री द्वारा वर्णित कालिदास का मनोरथ को हराना,
दिङ्नाग और कालिदास का द्वंद्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का
‘राज तरंगिणी’ में उसी काल का उल्लेख, हूण-राजकुल में सुंगयुन के अनुसार
विग्रह, काश्मीर-युद्ध की देखी हुई घटना—ये सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी
मिल जाती हैं कि दूसरे काव्यकार कालिदास को—विक्रय-सखा, दीप-शिखा
कालिदास को—मातृगुप्त मानने में कुछ भी संकोच नहीं होता—जैसा डाक्टर
भाऊदाजी का मत है ।

विक्रमांक के समान भोज के पिता सिंधुराज की पदवी साहसांक थी । पद्म-
गुप्त परिमल ने नवसाहसांक-चरित बनाया था । तंजौर वाली ‘साहसांक-चरित’
की प्रति में इनको भी कालिदास लिखा । बहुत संभव है कि यह तीसरे कालि-
दास बंगाल के हों, जैसा कि बंगाली लोग मानते हैं । ऋतुसंहार, पुष्पबाण-
विलास, शृंगार-तिलक और अश्वघाटी काव्यों के रचयिता संभवतः यही तीसरे
कालिदास हो सकते हैं ।

नय शंकर प्रसाद

परिशिष्ट

(गुप्त एवं मालव राजवंश)

गुप्त राजवंश

श्री गुप्त—(ई० २७५-३००)

(कोई इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते हैं 'श्री' सम्मान सूचक है)

घटोत्कच गुप्त—(ई० ३००-३२०)

(इस नाम के साथ 'गुप्त' शब्द नहीं मिलता)

चंद्रगुप्त—(ई० ३२०-३३५)

(यही पहला स्वतंत्र गुप्त-वंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छवियों के यहाँ इसका ब्याह हुआ)

समुद्रगुप्त—(ई० ३३५-३८५)

(गुप्तवंश का परम प्रतापी, भारत-विजेता सम्राट्, राजसूय और अश्वमेध-यज्ञ किया)

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८५-४१३)

(पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य, जिसे लोग चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते हैं)

कुमारगुप्त महेंद्रादित्य (ई० ४१३-४५५)

(मालव-विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता महेंद्रादित्य)

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ई० ४५५-

४६७) (उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य। महान वीर। इसके चाँदी के सिक्कों पर परम भागवत् श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त अंकित है)

पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई० ४६७-४६९)

(इसके सोने के सिक्कों पर 'श्री विक्रमः' भी मिलता है। परंतु प्रकाशादित्य नाम वाले सिक्के भी इसी के हैं, जिन्हें उज्जयिनी में स्कंदगुप्तके शासन-काल में मगध में इसने स्वतंत्र रूप से ढलवाये,

फिर स्कंदगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि 'श्री विक्रम' भी ग्रहण कर ली होगी)

नरसिंहगुप्त बालादित्य (ई० ४६९-४७३)

(यह प्रथम बालादित्य है जिसे राज-तरंगिणीकार ने भ्रम से विक्रमादित्य का भाई लिखा है। और, वह यशोधर्म का भी समकालीन नहीं था)

कुमारगुप्त विक्रमादित्य ? (द्वितीय)

(ई० ४७३-४७७)

(कई विद्वान कुमार गुप्त को स्कंद गुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। परंतु यह ठीस नहीं। भितरी के 'सील' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमार गुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमार गुप्त और भितरी के 'सील' का कुमार, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, जिसका उत्तराधिकारी बुधगुप्त था— जिसके राज्य काल में मालव पर हूणों का अधिकार हुआ। मंदसौर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (४९३ वि०) में बंधुवर्मा का राज्य मालव पर था, उक्त ४३६ ई० में कुमार गुप्त प्रथम का राज्य था। और उसी शिलालेख में जो ५२९ वि० का उल्लेख है, वह उस मंदिर के जीर्णोद्धार का है - 'संस्कारितमिबंभूयः श्रेण्या भानुमतो

गृह'—से यह स्पष्ट है)

बुधगुप्त परादित्य ? (ई० ४७७-४९४)

(इसके समय में मगध-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए । इसका राज्य केवल मगध अंग और काशी तक ही रह गया था)

तथागतगुप्त परादित्य ? (ई० ४९४-५१०)

(जोन एलन के मतानुसार यहाँ घटोत्कच का नाम होना चाहिये । परंतु हुएत्सांग ने लिखा है कि यशोधर्म के साथ मिह्रकुल को हराने वाले बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था । इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागत गुप्त ही मानने को बाध्य होते हैं)

भानुगुप्त बालादित्य (ई० ५१०-५३४)

(जब हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म देव ने किया उस समय मगध को इसी बालादित्य ने बचाया । इसी की ओर से अरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया । सारनाथ में इसी का लेख मिला है—तद्वंश संभवोन्यो बालादित्यो नृपः प्रीत्य प्रकटादित्ये'—No 79, Plate XYIIC)

वज्रगुप्त प्रकटादित्य ? (ई० ५३४-५४०)

(प्रकटादित्य वज्रगुप्त की उपाधि हैं । इसी वज्रगुप्त के समय में मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया तब से गुप्त वंश का प्रधान्य लुप्त हुआ)

मालव राजवंश

सिंह वर्मा

(समुद्रगुप्त का समकालीन)

चंद्रवर्मा (पुष्कर-राज)

नरवर्मा (मालव-राज)

(गंगधार के शिलालेख में वर्णित स्वतंत्र नरेश)

विश्ववर्मा (मालव-राज)

बंधुवर्मा का भाई— भीमवर्मा (संभवतः बंधुवर्मा (मालव-राज))

कौशांबी का सामंत राजा, स्कंदगुप्त का (गुप्त साम्राज्य के अधीन हुआ)
समसामयिक)

पात्र

स्कंदगुप्त	: युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त	: मगध का सम्राट्
गोविंदगुप्त	: कुमारगुप्त का भाई
पुरगुप्त	: कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
पर्णदत्त	: मगध का महानायक
चक्रपालित्	: पर्णदत्त का पुत्र
बंधुवर्मा	: मालव का राजा
भीमवर्मा	: बंधुवर्मा का भाई
मातृगुप्त	: काव्यकर्त्ता कालिदास
प्रपंचबुद्धि	: बौद्ध कापालिक
शर्वनाग	: अंतर्वेद का विषयपति
धातुसेन (कुमारदास)	: कुमारदास के प्रच्छन्न रूप में सिंहल का राजकुमार
भटार्क	: नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन	: मंत्री कुमारामात्य
खिंगिल	: हूण आक्रमणकारी
मुद्गल	: विद्वपक
प्रक्ष्यातकीर्त्ति	: लंकाराज-कुलका श्रमण, महाबोधि-बिहार का स्थविर

महाप्रतिहार, महाबंडनायक, नंबीग्राम का दंडनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि

देवकी	: कुमारगुप्त की बड़ी रानी स्कंदगुप्त की माता
अनंतदेवी	: कुमारगुप्त की छोटी रानी - पुरगुप्त की माता
जयमाला	: बंधुवर्मा की स्त्री - मालव की रानी
देवसेना	: बंधुवर्मा की बहिन
विजया	: मालव के धनकुबेर की कन्या
कमला	: भटार्क की जननी
रामा	: शर्वनाग की स्त्री
मालिनी	: मातृगुप्त की प्रणयिनी
	सखी, दासी, इत्यादि

प्रथम अंक

१

(उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कंधावार)

स्कंदगुप्त : (टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है ! अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है ! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी - अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं ? (ठहरकर) उंह ! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं ।)

पर्णदत्त : (प्रवेश करके) युवराज की जय हो ।

स्कंदगुप्त : आर्य पर्णदत्त का अभिवादन करता हूँ । सेनापति की क्या आज्ञा है ?

पर्णदत्त : मेरी आज्ञा ! युवराज ! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं, मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ । इस वृद्ध ने गरुडध्वज लेकर आर्य्य चंद्रगुप्त की सेना का संचालन किया है । अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में - उसी गरुडध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ यही कामना है— गुप्तकुल-भूषण ! आशीर्वाद दीजिये, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो ।

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिंधु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं । तब भी संदेह !

पर्णदत्त : संदेह दो बातों से है युवराज !

स्कंदगुप्त : वे कौन-सी हैं ?

पर्णदत्त : अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन ।

स्कंदगुप्त : क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है ?

पर्णदत्त : संभवतः सम्राट् तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

स्कंदगुप्त : क्या ! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं ? शोक !

पर्णदत्त : अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं ! इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है ।

स्कंदगुप्त : चिंता क्या आर्य्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ ! वह भी किसलिए ?

पर्णदत्त : किसलिए ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए -- आपको अपने अधिकार का उपयोग करना होगा । युवराज ! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिंता है । गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं !

स्कंदगुप्त : सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये । परब भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेंद्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है । गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं ।

पर्णदत्त : राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है । इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है । गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं ।

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी हैं ?

पर्णदत्त : प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तंभित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?

स्कंदगुप्त : क्या पुण्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति, चकित हो रहे हैं ? (हँसता है)

पर्णदत्त : युवराज ! व्यंग न कीजिये। केवल पुण्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिये, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिये। चरों ने आज ही कहा है कि कपिश को श्वेत-हूणों ने पदाक्रांत कर लिया—तिस पर भी युवराज पूछते हैं कि “अधिकारों का उपयोग किसलिए !” यही ‘किसलिए’ प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को ‘गले पड़ी’ वस्तु समझने लगे हैं।

चक्रपालित : (चक्रपालित का प्रवेश) अरे, युवराज भी यहीं हैं ! युवराज की जय हो !

स्कंदगुप्त : आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित : पिताजी ! प्रणाम—कैसी बात है ?

पर्णदत्त : कल्याण हो, आयुष्मन् ! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं ‘अधिकार किसलिए’ ?

चक्रपालित : तात ! इस ‘किसलिए’ का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्णदत्त : क्या ?

चक्रपालित : गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम !

स्कंदगुप्त : चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्रपालित : युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्णदत्त : (गंभीरता से) चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विषय का बीज न बना देना।

स्कंदगुप्त : आर्य्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिये। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना—चक्र नहीं जानता।

पर्णदत्त : ठीक है, किंतु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। (कुछ देखकर) चर आ रहा है—युद्ध का कोई नया समाचार है क्या ?

चर : (चर का प्रवेश) युवराज की जय हो !

पर्णदत्त : क्या समाचार है ?

पर्णदत्त : अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं ! इधर प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है ।

स्कंदगुप्त : चिंता क्या आर्य्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ ! वह भी किसलिए ?

पर्णदत्त : किसलिए ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीतव के सम्मान के लिए, देवता ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए - आपको अपने अधिकार का उपयोग करना होगा । युवराज ! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिंता है । गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं !

स्कंदगुप्त : सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये । परब भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेंद्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है । गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं ।

पर्णदत्त : राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है । इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है । गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है, पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं ।

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! इतना व्यंग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी हैं ?

पर्णदत्त : प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तंभित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादंबिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?

स्कंदगुप्त : क्या पुण्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं ? (हँसता है)

पर्णदत्त : युवराज ! व्यंग न कीजिये । केवल पुण्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिये, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिये । चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत-हूणों ने पदाक्रांत कर लिया—तिस पर भी युवराज पूछते हैं कि “अधिकारों का उपयोग किसलिए !” यही ‘किसलिए’ प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को ‘गले पड़ी’ वस्तु समझने लगे हैं ।

चक्रपालित : (चक्रपालित का प्रवेश) अरे, युवराज भी यहीं हैं ! युवराज की जय हो !

स्कंदगुप्त : आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है ।

चक्रपालित : पिताजी ! प्रणाम—कैसी बात है ?

पर्णदत्त : कल्याण हो, आयुष्मन् ! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं । वे पूछते हैं ‘अधिकार किसलिए’ ?

चक्रपालित : तात ! इस ‘किसलिए’ का अर्थ मैं समझता हूँ ।

पर्णदत्त : क्या ?

चक्रपालित : गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम !

स्कंदगुप्त : चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्रपालित : युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है ।

पर्णदत्त : (गंभीरता से) चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं । असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विषवृक्ष का बीज न बना देना ।

स्कंदगुप्त : आर्य्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिये । हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना—चक्र नहीं जानता ।

पर्णदत्त : ठीक है, किंतु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिये । (कुछ बेखबर) चर आ रहा है—युद्ध का कोई नया समाचार है क्या ?

चर : (चर का प्रवेश) युवराज की जय हो !

पर्णदत्त : क्या समाचार है ?

चर : अबकी बार पुण्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है । वे अपनी समस्त

शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं ! नासीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है । दशपुर से भी दूत आया है ।

स्कंदगुप्त : अच्छा जाओ, उसे भेज दो ।

(चर जाता है/ दशपुर के दूतका प्रवेश)

दूत : युवराज भट्टारक की जय हो !

स्कंदगुप्त : मालवपति सकुशल हैं ?

दूत : कुशल आपके हाथ है । महाराज विश्ववर्मा का शरीरांत हो गया है ! नवीन नरेश महाराज बंधुवर्मा ने साभिवादन श्रीचरणों में संदेश भेजा है ।

स्कंदगुप्त : खेद ! ऐसे समय में, जबकि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वे स्वयं कौटुंबिक आपत्तियों में फँस गये हैं !

दूत : इतना ही नहीं, शक-राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चला है, इस कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा ।

(स्कंदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं)

पर्णदत्त : वलभी का क्या समाचार है ।

दूत : वलभी का पतन अभी रुका है । किंतु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है । मालव की रक्षा के लिए महाराज बंधुवर्मा ने सहायता माँगी है । दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है ।

स्कंदगुप्त : मालव और शक युद्ध में जो संधि गुप्त-साम्राज्य और मालव-राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्तव्य है । महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं । परंतु दूत ! बड़ी कठिन समस्या है ।

दूत : विषम व्यवस्था होने पर भी युवराज ! साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है ।

पर्णदत्त : दूत ! क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुण्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है !

दूत : तब भी मालव ने कुछ समझकर—किसी आशा पर ही, अपनी स्वतंत्रता को सीमित कर लिया था ।

स्कंदगुप्त : (दूत ! केवल संधि-नियम से ही हम लोग बाध्य नहीं हैं—शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है) तुम विश्राम करो । सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे । अकेला स्कंदगुप्त—मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है । जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो ! स्कंदगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा ।

दूत : धन्य युवराज ! आर्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है ! (प्रणाम करके जाता है)

पर्णदत्त : युवराज ! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी ।

जक्रपालित : तात ! पुष्यमित्र-युद्ध का अंत तो समीप है । विजय निश्चित है । किसी दूसरे सैनिक को भेजिये । मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो ।

स्कंदगुप्त : नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो । ध्यान रखना राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती । हम लोगों को इस आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा है !

पर्णदत्त : कुछ चिंता नहीं युवराज ! भगवान् सब मंगल करेंगे । चलिये, विश्राम करें ।

(प्रस्थान/दृश्यांत)

२

(कुसुमपुर के राजमंदिर में सम्राट् कुमारगुप्त और उनके पार्षद्)

कुमारदास : परम भट्टारक ! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं । मैंने समझा था, राज-सिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड दिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था, परंतु—

कुमारगुप्त : (हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं बसते—क्यों कुमारदास ?

कुमारदास : यदि राक्षस कोई था तो विभीषण था, और बंदरों में भी एक सुग्रीव हो गया । दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है । परंतु हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा । सुना था रामचंद्र ने तो—जब वे युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था । सम्राट् होने पर भी युद्ध !

कुमारगुप्त : युद्ध तो करना ही पड़ता है । अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है ।

कुमारदास : अच्छा, तो स्वर्गीय आर्य्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य-विजय किया था, सो उनके लिए परम आवश्यक था ? क्या पाटलिपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था ?

कुमारगुप्त : तुम भी बालि की सेना में से कोई बचे हुए हो !

कुमारदास : परम भट्टारक की जय हो ! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था । जब उसमें लड़खाने वाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर—

कुमारगुप्त : क्यों ?

कुमारदास : उनकी बड़ी सुंदर ग्रीवा में लड़खाने अत्यंत सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिए—उनकी तारा का मंत्रित्व । सुना है सम्राट् ! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई । परम भट्टारक की दुहाई ! एक स्त्री को मंत्री—आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँछवाले मंत्रियों के बदले उसकी एकांत मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी ।

कुमारगुप्त : (हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं ।

कुमारदास : तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिए स्त्री हो जायँ, क्यों कुमारामात्यजी ?

पृथ्वीसेन : पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ ?

कुमारगुप्त : (हँसते हुए) हाँ, तो आर्य्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य्य साम्राज्य के समय से ही सिंधु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अंतर्गत था। जगद्विजेता सिकंदर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रांत को मौर्य्य सम्राट् चंद्रगुप्त ने लिया था।

कुमारदास : फिर तो लड़कर ले लेने की परंपरा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य...

कुमारगुप्त : उँह ! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

कुमारदास : नहीं धर्मावतार ! समझ में तो इतनी बात आ गई कि लड़कर लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भटार्क : नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है ?
जिसके हाथ में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा ? और यदि
माँगकर मिल भी जाय, तो शांति की रक्षा कौन करेगा ?

मुद्गल : (प्रवेश करते हुए) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परंतु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता ! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शांति से बैठा रहता हूँ। (पन्नासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन : परम भट्टारक की जय हो ! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो—

कुमारगुप्त : हाँ, हाँ कहिये।

पृथ्वीसेन : शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कंधावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी बता गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत हैं !' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमारगुप्त : मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता चला ?
क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है ।

पृथ्वीसेन : अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने से मैं स्वयं ही इसे ठीक कर लेता ।

कुमारगुप्त : महासांघिविग्रहिक साधु ! यह वंश-परंपरागत तुम्हारी ही विद्या है ।

पृथ्वीसेन : सम्राट् के श्रीचरणों का प्रताप है । सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने वाला है । इसीलिए युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था ।

भटार्क : सौराष्ट्र की गति-विधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है । वहाँ शक राष्ट्र बड़ा चंचल अथवा भयानक है ।

पृथ्वीसेन : (गूढ़दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत ! आवश्यकता होने पर आपको वहाँ जाना ही होगा, उत्कंठा की आवश्यकता नहीं ।

भटार्क : नहीं । मैं तो...

कुमारगुप्त : महाबलाधिकृत ! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी । अभी आवश्यकता नहीं ।

कुमारदास : (हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले । मेरा घर पास है—स्वच्छंदतापूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा ।
(सब हँसते हैं)

मुद्गल : जय हो देव ! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले । मैं अभी उसका सर्वस्वांत कर डालूँ ।

(फिर सब हँसते हैं/गंभीर भाव से अभिवादन करते हुए एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान)

कुमारगुप्त : मुद्गल ! तुम्हारा कुछ...

मुद्गल : महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवराज भट्टारक की कल्याण-

कामना के लिए चक्रपाणि भगवान् की पूजा की- सामग्री प्रस्तुत है- आर्य्यपुत्र कब चलेंगे ?

कुमारगुप्त : (मुंह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्त्तकियाँ आने वाली हैं, आपानक भी है ! महादेवी से कह देना, असंतुष्ट न हों, कल चलूँगा । समझा न मुद्गल ?

मुद्गल : (खड़ा होकर) परमेश्वर परम भट्टारक की जय हो ! (जाता है)

कुमारदास : वह चाणक्य कुछ भाँग पीता था । उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिये ।

कुमारगुप्त : यह राष्ट्रनीति है ।

(अनंतदेवी का चुपचाप प्रवेश)

कुमारदास : भूल गया, उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों जैसी संतान उत्पन्न हों ?

अनंतदेवी : (सामने आकर) आर्य्यपुत्र की जय हो !

(कुमारदास भयभीत होने का-सा मुंह बनाकर चुप हो जाता है)

कुमारगुप्त : आओ प्रिये ! तुम्हें खोज ही रहा था ।

अनंतदेवी : नर्त्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ । कुमारामात्य आदि थे, मंत्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर देर लगाई । आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं । (कुमारदास की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमारगुप्त : वह अबोध विदेशी हँसोड़ है ।

अनंतदेवी : तब भी सीमा होनी चाहिये ।

कुमारदास : चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है । उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिला । क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा ।

अनंतदेवी : पूछ लो ।

कुमारदास : उसके अनर्थशास्त्र में विषकन्या का...

कुमारगुप्त : (डँटकर) चुप रहो ।

(नर्त्तकियों का गाते हुए प्रवेश)

न छोड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल !
 करुण रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल !
 हृदय धूल में मिला दिया है
 उसे चरण-चिह्न-सा किया है
 खिले फूल सब गिरा दिया है न अब बसंती बहार कोकिल !
 सुनी बहुत आनंद-भैरवी
 विगत हो चुकी निशा-माधवी
 रही न अब शारदी कैरवी न तो मघा की फुहार कोकिल !
 न खोज पागल मधुर प्रेम को
 न तोड़ना और के नेम को
 बचा विरह-मौन के क्षेम को कुचाल अपनी सुधार कोकिल !
 (दृश्यांत)

३

(पथ में मातृगुप्त)

मातृगुप्त : कविता करना अनंत पुण्य का फल है -- इस दुराशा और अनंत उत्कंठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई । संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा । परंतु कौसी विडंबना ! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या -- एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है ! सचित हृदय-कोश के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी ! मनोरथ को -- भारत के प्रकांड बौद्ध पंडित को -- परास्त करने में मैं सबकी प्रशंसा का भाजन बना, परंतु हुआ क्या ?

मुद्गल : (प्रवेश करके) कहिये कविजी ! आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े ! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या ?

मातृगुप्त : अभी तो यों ही बैठा हूँ ।

मुद्गल : क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है—तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो । कविता करते हो न ? भाई—उसे छोड़ दो !

मातृगुप्त : क्यों ? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है ! कवित्व—वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है । अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत् का अंतर्जगत् से संबंध—कौन कराती है ? कविता ही न !

मुद्गल : परंतु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आँखों का निद्रा से भी संबंध होता है कि नहीं ? कभी इसको भी सोचा-विचारा है ?

मातृगुप्त : संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की हैं । पशु भी इनकी चिंता कर लेते होंगे ।

मुद्गल : और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है—अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है ! और वाग्जाल की फाँस उसके पास है । अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद—मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है ।

मातृगुप्त : होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?

मुद्गल : स्वप्नमय जीवन छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ । ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिए दया आती है ।

मातृगुप्त : क्या कहूँ ?

मुद्गल : मैं दो-चार दिन में अवंती जाने वाला हूँ; युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा । अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी—है स्वीकार ?

मातृगुप्त : परंतु मेरे ऊपर इतनी दया क्यों ?

मुद्गल : तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ । उसी दिन से मैं खोजता था । तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है । बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो—ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं ।'

मातृगुप्त : तब तो बड़ी कृपा है । मैं अवश्य चलूँगा । काश्मीरमंडल में हूँ

का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या को पूछने वाला कोई नहीं। म्लेच्छाक्रांत देश छोड़कर राजधानी में चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल : अच्छा तो मैं जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूंगा तुम चलने के लिए प्रस्तुत रहना (प्रस्थान)

मातृगुप्त : काश्मीर ! जन्मभूमि ! जिसकी धूलि में लोटकर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया। और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह ! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा ! प्रिय—
संसृति के वे सुंदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृंखलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निःश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बंदी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहे मिलने।
लीन हो गयी लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से।
उस सुख का आर्लिगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।

कुमारदास : (प्रवेश करके) साधु !

मातृगुप्त : (अपनी भावनाओं में तल्लीन जैसे किसी को न देख रहा हो) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे

चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चांदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य— उस अतींद्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मेने हाथ बढ़ाया ही था, वहीं स्वप्न टूट गया।

कुमारदास : समझ में न आया, सिंहल और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो, लंबे हो, खिची हुई भौहें हैं, सब होने पर भी सिंह-लियों की घुँघराली लटें उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न में भी देखने की वस्तु नहीं ?

मातृगुप्त : (कुमारदासको जैसे सहसा देखकर) पृथ्वीकी समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने तुषार के अँचल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास : और बड़वानल को अनंत जलराशि से जो संतुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को— अच्छा जाने दो रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की। हाँ, उस हिमालय के...

मातृगुप्त : उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित हिम का, पीले पोखराज का—सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली ! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिरे जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र !

कुमारदास : तुम विद्वान् हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह ?

मातृगुप्त : (यदि यह विश्व इंद्रजाल ही है, तो उस इंद्रजाली की अनंत इच्छा को पूर्ण करने का साधन— यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले)

कुमारदास : मित्र ! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी की वीणा में झन्कार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो। तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त : उमकी चिंता नहीं—दैन्य जीवन के प्रचंड आतप में सुंदर स्नेह मेरी छाया बने ! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो आयगा ।

कुमारदास : मित्र ! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा अब तो मैं सिंहल जाता हूँ—देश की पुकार है । इसलिए मैं स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' छोड़ता हूँ । कविवर ! इस क्षीण परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत—कभी आना ।

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास ! तुम क्या कुमार धातुसेन हो ?

कुमारदास : हाँ मित्र, लंका का युवराज ! हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर; प्रख्यातकीर्ति, महाबोधि-विहार का थमण है ! उसे और गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था । गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा । और, देखा दर्प से उद्भूत साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य ! आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है । मित्र, परिवर्तन उपस्थित है !

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन !

कुमारदास : सरल युवक ! (इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य ! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय—हुआ !) परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है । स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है । प्रकृति क्रियाशील है समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है । पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अवि-व्यक्ति की कुंजी है । पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है । स्त्री आकर्षण करती है । यही जड़-प्रकृति का चेतन रहस्य है ।

मातृगुप्त : निस्संदेह । अनंतदेवी के इंगित पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं—अद्भुत पहेली है ।

कुमारदास : पहेली ! यह भी रहस्य ही है । पुरुष है कुतूहल और प्रश्न, और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान । पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है । उसके कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल

उपचार ! अभागा मनुष्य संतुष्ट है—बच्चों के समान । पुरुष ने कहा—‘क’, स्त्री ने अर्थ लगा दिया— ‘कौवा’ बस, वह रटने लगा । विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं । काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अंधकार होगा । परंतु आशा का केंद्र ध्रुवतारा एक युवराज ‘स्कंद’ है । निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे । एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है । तुम भी संभवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे । सावधान ! सिंहल तुम्हारे लिए प्रस्तुत है । (प्रस्थान)

मातृगुप्त : विचक्षण—उदार—राजकुमार !

(प्रस्थान/दृश्यांत)

४

(कुसुमपुर में अनंतदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ)

अनंतदेवी : जया ! रात्रि का द्वितीय प्रहर तो व्यतीत हो रहा, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

जया : स्वामिनी ! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं ।

अनंतदेवी : क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी सांस से चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है । महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है !)

जया : परंतु राजकीय अंतःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है ।

अनंतदेवी : अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूंगी, अपनी शिक्षा रहने दे ।

(जया कपाट के समीप कान लगाती है । संकेत होता है । गुप्तद्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है)

भटार्क : महादेवी की जय हो !

महादेवी : परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो !

भटार्क : हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता—
प्रजा, सभी कहेगी ।

अनंतदेवी : मुझे विश्वास नहीं होता ।

भटार्क : महादेवी ! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाय गये हैं, वे अंतस्तल में गड़े हुए हैं । उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे । चुभ-चुभ कर वे मुझे सचेत करेंगे । मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूँगा । बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है, मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा । महादेवी ! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है । परंतु वह भी जान-बूझकर—समझकर । मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्यबाण के लिए नहीं ।

अनंतदेवी : तुम वीर हो भटार्क ! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है । देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है ! महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिए आज ही से चिंतित है—विकल है । सम्राट् की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं । इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं ।

भटार्क : मैं सब समझ रहा हूँ । पुण्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ । मैं दूध पीनेवाला शिशु नहीं हूँ और मुझे यह स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है । मैं कृतघ्न नहीं हूँ, महादेवी ! आप निश्चित रहें ।

अनंतदेवी : पुण्यमिश्रों के युद्ध में भेजने के लिए मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क ! क्रांति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क : क्रांति के सहसा—इतने समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ते।

अनंतदेवी : ^{मैं}राजधानी में आनंद-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है, इसके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी। आज तुम कालागुरु के गंध-धूम से संतुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सोध-मंदिरों में महापिचाशी की विप्लव-ज्वाला धधकेगी ! उस चिरायँध की उत्कट गंध असह्य होगी—तब तुम भटार्क ! उस आगामी खंडप्रलय के लिए—प्रस्तुत हो कि नहीं ? (ऊपर देखती हुई) उहाँ, प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क : कोन प्रपंचबुद्धि ?

अनंतदेवी : सूचीभेद अंधकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का—प्रज्ज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठाकर झाँकने वाला ! उसकी आँखों में अभिचार का संकेत है, मुस्कराहट में विनाश की सूचना है, आँधियों से खेलता है—बातें करता है—बिजलियों से आलिंगन !

प्रपंचबुद्धि : (सहसा प्रवेश करते) स्मरण है—भाद्र की अमावास्या ?

(भटार्क और अनंतदेवी सहम कर हाथ जोड़ते हैं)

अनंतदेवी : स्मरण है, भिक्षु शिरोमणे ! उसे मैं भूल सकती हूँ ?

प्रपंचबुद्धि : कोन, महाबलाधिकृत ! हैं-हैं-हैं-हैं तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे—है आँखों में इतना बल ? क्यों, समझ लिया था कि इन मुंडित-मस्तक जीर्ण-कलेवर भिक्षु-कंकालों में क्या घरा है ! देखो—शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का तांडव-नृत्य, शून्य—सर्वनाशकारिणी प्रकृति की—मुंडमालाओं की कंदुक-क्रीड़ा ! अश्व-मेघ हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेघ का उपसंहार भी देखो। (भटार्क को तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए) है तुझमें—तू करेगा ?

अच्छा महादेवी ! अमावस्या के पहले प्रहर में, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा — महाशून्य की ओर देखना । जाता हूँ — सावधान ! (प्रस्थान)

भटार्क : महादेवी ! यह भूकंप के समान हृदय को हिला देने वाला कौन व्यक्ति है ? ओह, मेरा तो शिर घूम रहा है !

अनंतदेवी : यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि हैं !

भटार्क : तब मुझे विश्वास हुआ । यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा । मैं उस दिन के लिए प्रस्तुत हूँ ।

अनंतदेवी : तब प्रतिश्रुत होते हो ?

भटार्क : दास सदैव अनुचर रहेगा ।

अनंतदेवी : अच्छा, तुम इसी गुप्तद्वार से जाओ । देखूँ अभी कादंब की मोह-निद्रा से सम्राट् जगे कि नहीं !

जया : (प्रवेश करके) परम भट्टारक अँगड़ाइयाँ ले रहे हैं । स्वामिनी, शीघ्र चलिये ! (प्रस्थान)

भटार्क : तो महादेवी, आज्ञा हो !

अनंतदेवी : (देखती हुई) भटार्क ! जाने को कूँ ? इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला, इतना — आह ! (औंस पोंछती है)

भटार्क : धैर्य रखिये । इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये !

अनंतदेवी : तो भटार्क, जाओ ।

जया : (सहसा प्रवेश करके) चलिये — शीघ्र — (बोनों जाती हैं)

भटार्क : एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है । ओह, कितनी साहसशीला स्त्री है ? देखूँ गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है । परंतु इसकी आँखों में कामपिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं । अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है । हृदय में श्वासों की गरभी विलास का संदेश वहन कर रही है । परंतु... अच्छा चलूँ, यह विचार करने का स्थान नहीं है । (गुप्त द्वार से जाता है/दृश्यांत)

५

(अंतःपुर का द्वार)

शर्वनाग : (टहलता हुआ) कौन-सी वस्तु देखी ? किस सौंदर्य पर मन रीक्षा ? कुछ नहीं, सदैव इसी सुंदरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा । मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुंदर है । वह मेरी स्त्री— जिसके अभावों का कोश कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भांडार अधय है, उससे मेरी अंतरात्मा काँप उठती है । आज मेरा पहरा है । घर से जान छूटी, परंतु रात बड़ी भयानक है । चलूँ अपने स्थान पर बैठूँ । सुनता हूँ कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यंत शोचनीय है— जाने भगवान्...

भटार्क : (प्रवेश करते) कौन ?

शर्वनाग : नायक शर्वनाग !

भटार्क : कितने सैनिक हैं ?

शर्वनाग : पूरा एक गुल्म ।

भटार्क : अंतःपुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्वनाग : नहीं ।

भटार्क : तुमको मेरे साथ चलना होगा ।

शर्वनाग : मैं प्रस्तुत हूँ, कहाँ चलूँ ?

भटार्क : महादेवी के द्वार पर ।

शर्वनाग : वहाँ—मेरा क्या कर्त्तव्य होगा ?

भटार्क : कोई—न तो भीतर जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे ।

शर्वनाग : (चौंककर) इसका तात्पर्य ?

भटार्क : (गंभीरता से) तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा का पालन करना चाहिये ।

शर्वनाग : तब भी, क्या स्वयं महादेवी पर नियंत्रण रखना होगा ?

भटार्क : हाँ ।

शर्वनाग : ऐसा !

(कोलाहल—भीषण उल्कापात)

भटार्क : ओह, ठीक समय हो गया ! अच्छा, मैं अभी आता हूँ ।

(द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है/रामा का प्रवेश)

रामा : क्यों, तुम आज यहीं हो ?

शर्वनाग : मैं—मैं—यहीं हूँ—तुम कैसे ?

रामा : मूर्ख ! महादेवी सम्राट् को देखना चाहती हैं, परंतु उनके आने में बाधा है—गोबर-गणेश ! तू कुछ कर सकता है ?

शर्वनाग : मैं—क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूंछ उखाड़ सकता हूँ, परंतु सिंह-वाहिनी ! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं ।

रामा : (पैर पटक कर) तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो ।

शर्वनाग : न-न-न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूँ । परंतु मुझे घबराओ मत, समझाकर कहो । मुझे क्या करना होगा ?

रामा : महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? क्या आज इस संपूर्ण गुप्त-साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो उनकी रक्षा करे ! शत्रु अपने विपैले डंक और तीखे दाढ़ सँवार रहे हैं । पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का क्षीण भूकंप चल रहा है ।

शर्वनाग : यही तो मैं भी कभी-कभी सोचता था । परंतु...

रामा : तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर जाओ । मैं जाती हूँ । (जाती है/एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सन-सन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है ! पवन में गति है—परंतु शब्द नहीं । 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परंतु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है । यह सब क्या है नायक ?

शर्वनाग : तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गई ?

सैनिक : म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूँ—पर...

शर्वनाग : तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रखो । हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं ।

(सैनिक जाता है/फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है पीछे-पीछे भटार्क और सैनिक)

पुरगुप्त : नायक शर्वनाग !

शर्वनाग : जय हो कुमार की ! क्या आज्ञा है ?

पुरगुप्त : तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो ।

शर्वनाग : दास चिर-अपराधी है कुमार ! (सिर झुका लेता है)

भटार्क : इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिये, ये सैनिक विश्वस्त वीर हैं ।

पुरगुप्त : जाओ, तुम महादेवी के द्वार पर—महाबलाधिकृत ने जैसा कहा है, वैसा करना ।

शर्वनाग : जैसी आज्ञा । (अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है / दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते हैं)

भटार्क : कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट् का निधन हो गया । हाँ, बड़ी हुई अवस्था का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी—चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हों—भीतर न आने पावें । तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यंत विकल है, किसी से मिलना नहीं चाहते समझा ?

नायक : अच्छा... (दोनों जाते हैं/फाटक बंद होता है)

नायक : (सैनिकों से) आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो सावधान ।

(कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महादंडनायक, महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार : नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे ।

नायक : प्रभु ! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है ।

महाप्रतिहार : (चौंकरकर) आज्ञा ! किसकी आज्ञा ? अबोध ! तू नहीं जानता—सम्राट् के अंतःपुर पर स्वयं सम्राट् का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का ? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर ।

नायक : दंड दीजिये प्रभु, परंतु द्वार न खुल सकेगा ।

महाप्रतिहार : तू क्या कह रहा है ?

नायक : जैसी भीतर से आज्ञा मिली है ।

कुमारामात्य : (पैर पटककर) ओह !

महादंडनायक : विलंब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ ।

महाप्रतिहार : मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अंतःपुर से हट जाओ युवक ! नहीं तो तुम्हें पदच्युत कल्लाँगा ।

नायक : यथार्थ है । परंतु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं के अधीनस्थ सैनिक हूँ । महाप्रतिहार के अंतःपुर-रक्षकों में मैं नहीं हूँ ।

महाप्रतिहार : क्या अंतःपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ? पृथ्वीसेन !

पृथ्वीसेन : इसका परिणाम भयानक है । अंतिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट् के आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा ।

महाप्रतिहार : अच्छा (कुछ देखकर) हाँ शर्वनाग कहाँ गया ?

नायक : उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है ।

महाप्रतिहार : (क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग !

महादंडनायक : (कान लगाकर अंतःपुर का क्षीण क्रंदन सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया ? हम अवश्य भीतर जायेंगे ।

(तीनों तलवार खींच लेते हैं/नायक भी सामने आ जाता है/द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश)

पृथ्वीसेन : भटार्क ! यह सब क्या है ?

भटार्क : (तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ) परम भट्टाकारक राजा-धिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादंड-नायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र-अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिये !

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार : तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेंद्रादित्य अब संसार में नहीं हैं ?

भटार्क : नहीं ।

पृथ्वीसेन : परंतु उत्तराधिकारी — युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त : चुप रहो । तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी — उत्तराधिकारी का निर्णय — स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं ।

पृथ्वीसेन : परंतु प्रमाण ?

पुरगुप्त : क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन : अवश्य !

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बंदी करो !

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन : ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परंतु एक बात—

पुरगुप्त : आधी बात भी नहीं, बंदी करो—

पृथ्वीसेन : कुमार ! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राजदंड— टिकेगा नहीं। संभवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे इसलिए कुमार ! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत ! क्यों विलंब करते हो ?

भटार्क : आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिये।

महाप्रतिहार : आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य्य चंद्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र, और अपनी रक्षा कर।

पृथ्वीसेन : महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ? यह अंतर्विद्रोह का समय नहीं है ! पश्चिम और उत्तर से काली घटायें उमड़ रही हैं, यह समय बल-नाश करने का नहीं—आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परंतु भटार्क ! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कंदगुप्त उस पर न्योछावर हों ! आर्य्य-साम्राज्य की जय हो ! (छुरा मारकर गिरता है महा-प्रतिहार और महादंडनायक भी बैसा ही करते हैं)

पुरगुप्त : पाखंड स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ।

भटार्क : परंतु मूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक !

पुरगुप्त : कुछ नहीं। (भीतर जाता है)

भटार्क : तो जायें, सब जायें, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय,

वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों !

(क्रमशः मंद होते प्रकाश में वृश्पांत)

६

(नगर-प्रांत के पथ में)

मुद्गल : (प्रवेश करते) किसी के सम्मान-सहित निमंत्रण देने पर पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—दूसरी बात है, और भटकते, थकते, उछलते-कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते—हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु ! कहाँ हम और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ती और अवन्ती से मूल-स्थान ! इस बार की आज्ञा का तो पालन करता हूँ, परंतु, यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया । अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूँ कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना ! (गठरी रखकर बंठे-बंठे ऊँघने लगता है/मातृगुप्त का प्रवेश)

मातृगुप्त : मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा ! चलें, इसे कुछ तंग करें—थोड़ा मनोविनोद ही सही !

(कपड़े से मुँह छिपाये गठरी खींचकर चलता है)

मुद्गल : (उठकर) ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो ।

(मातृगुप्त चक्कर काटता है/मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है)

मातृगुप्त : (दूर खड़ा होकर) अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी !

मुद्गल : अपनी गठरी बचाने में टाँग का टूटना बुरा नहीं, अपशकुन नहीं । तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं । तुम्हारा पीछा न छूटेगा । हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो । डंडा

न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है ? बोलो—

मातृगुप्त : न्याय ! तब तो तुम आप्तवाक्य मानते होगे ?

मुद्गल : अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा ?

मातृगुप्त : हाँ—तुमने गीता पढ़ी होगी ?

मुद्गल : हाँ—अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े !

मातृगुप्त : उसमें लिखा है कि—नत्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमे—न हम हैं, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा !

मुद्गल : ओहो ! तुम समझे नहीं ।

मातृगुप्त : क्या ?

मुद्गल : गीता सुनने के बाद क्या हुआ ?

मातृगुप्त : महाभारत !

मुद्गल : तब भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डंडा (तानते हुए) लगा ।

मातृगुप्त : मुद्गल डंडा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्र-भाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ रक्त—एक बूँद भी गिराऊँ (गठरी देता है)

मुद्गल : अरे कौन ! मातृगुप्त !

मातृगुप्त : (नेपथ्य का कोलाहल सुनते) हाँ मुद्गल । इधर तो शकों और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारो ओर विप्लव का सम्राज्य है । निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है ।

मुद्गल : और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवंती गया, वहाँ युवराज नहीं थे । बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविंदगुप्त को जिस तरह हो—खोज निकालो । यहाँ तो विकट समस्या है । हम लोग क्या कर सकते हैं ?

मातृगुप्त : कुछ नहीं—केवल भगवान् से प्रार्थना ! साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कंदगुप्त क्या करेंगे ?

मुद्गल : परंतु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है—मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं।

मातृगुप्त : नहीं मुद्गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था ? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिए है ? देखो—वह दूर पर बँधे हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसता ! ओह !

मुद्गल : अरे ! हाय रे बाप ! !

मातृगुप्त : सावधान ! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, हम लोग भगवान् से विनती करें—

दोनों : उतारोगे अब कब भू-भार ।

बार-बार क्यों कह रक्खा था लूंगा मैं अवतार ।

उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार ।

बाड़बल्लिहान जिह्वा का करता है विस्तार ।

प्रलय-पयोधर बरस रहे हैं—रक्त-अश्रु की धार ।

मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार ।

पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार ?

सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार ?

(बंदियों के साथ हूण सैनिकों का प्रवेश)

हूण : चुप रह क्या गाता है ?

मुद्गल : हैं हैं, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजियेगा ?
(बीन मुद्रा बनाता है)

हूण : (धक्का देते हुए) चल; एक ओर खड़ा हो। हाँ जी इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया—बड़े कुत्ते हैं।

नागरिक : हम निरीह प्रजा हैं। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दें। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति : तुम लोग बातें खूब बनाते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये

टुए लोहे प्रस्तुत हैं—कोड़े और तेल में तर कपड़े भी ! उम कष्ट का स्मरण करो !

नागरिक : प्राण तो तुम्हारे हाथों में हैं, जब चाहे ले लो ।

हूण-सेनापति : (कोड़े से मारता हुआ) उसे तो लेंगे ही, पर धन कहाँ है ?

नागरिक : नहीं है निर्दय हत्यारे ! कह दिया कि नहीं है !

हूण-सेनापति : (सैनिकों से) इन बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डाल कर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो ।

स्त्रियाँ : हे नाथ—

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो, हमारे दीन के संबल कहाँ हो ?

नहीं हो नाम ही बसनाम है क्या, सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो ?

पुकारा जब किसी ने तब सुना था—भला विश्वास यह हमको कहाँ हो ?

(स्त्रियों को पकड़ कर हूण खींचते हैं)

मातृगुप्त : हे प्रभु—हमें विश्वास दो अपना बना लो ।

सदा स्वच्छंद हों—चाहे जहाँ हों ।

इन निरीहों के लिये प्राण उत्सर्ग करना धर्म हैं—कायरों स्त्रियों पर यह अत्याचार !

(तलवार से बंधन काटता है/लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश)

संन्यासी : साधु ! वीर ! सम्हलकर खड़े हो जाओ—भगवान् पर विश्वास करके खड़े हो !

मुद्गल : (पहचानता हुआ) जय हों, महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय हो !

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं/हूण सैनिक भागते हैं)

गोविंदगुप्त : अच्छा मुद्गल ! तुम यहाँ कैसे ? और युवक ! तुम कौन हो ?

मातृगुप्त : युवराज स्कंदगुप्त का अनुचर ।

मुद्गल : वीर-पुंगव ! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में !

गोविंदगुप्त : क्या कहूँ मुद्गल ! स्कंद कहाँ है ?

मातृगुप्त : उज्जयिनी में !

गोविंदगुप्त : अच्छा है, सुरक्षित है । चलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है—वहाँ विश्राम करो । यहाँ का प्रबंध करके हमको शीघ्र

आवश्यक कार्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब : जय हो महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की।

गोविंदगुप्त : पुण्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

मातृगुप्त : विजय हुई।

गोविंदगुप्त : और मालव का ?

मुद्गल : युवराज थोड़ी सेना लेकर बंधुवर्मा की सहायता के लिए गये हैं !

गोविंदगुप्त : (ऊपर देख कर) वीरपुत्र है। स्कंद ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें ! आर्य-साम्राज्य के तुम्हीं एकमात्र भरोसा हो।

मुद्गल : तब, महाराजपुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये।

गोविंदगुप्त : हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

(सब जाते हैं/दृश्यांत)

(अवंती के दुर्ग में देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया : विजय किसकी होगी—कौन जानता है।

जयमाला : तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है !

देवसेना : और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।

विजया : (संकुचित होकर) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला : परंतु एक उपाय है।

विजया : वह क्या ?

जयमाला : रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना : तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला : तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश—वही यदि इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता, तो...

विजया : किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है !

जयमाला : ठहरो, कोई आ रहा है।

बंधुवर्मा : (प्रवेश करके) प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। संभवतः शकों और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूंगा।

जयमाला : नाथ ! तब क्या मुझे स्कंदगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से शत्रु पर टूट पड़ो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ।

विजया : महाराज ! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिये।

बंधुवर्मा : घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये !

जयमाला : स्वर्ण-रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिर-संगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।

बंधुवर्मा : प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिये। अच्छा दुर्ग का तो नहीं, अंतःपुर का भार तुम्हारे ऊपर है।

देवसेना : भैया, आप निश्चित रहिये।

बंधुवर्मा : भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा। मैं जाता हूँ। (जाता है)

विजया : भयानक युद्ध समीप जान पड़ता है—क्यों राजकुमारी !

देवसेना : तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ।

विजया : हँसी न करो राजकुमारी।

जयमाला : बुरा क्या है ?

विजया : युद्ध और गान !

जयमाला : युद्ध क्या गान नहीं है ? हद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव-नृत्य,

और शस्त्रों का वाद्यमिलकर एक भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य की गहन और भयानक वास्तविकता का अनुभव—केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महा-माया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के इमशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य-सुंदर संगीत का समारंभ होता है।

देवसेना : तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं !

जयमाला : तो गाओ न !

विजया : रानी ! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो—या स्त्री हो ? देवी ज्वालामुखी की सुंदर लट के समान तुम लोग...

जयमाला : सुनो, देवसेना गा रही है—

(देवसेना गाती है)

भरा नैनों में मन में रूप ।

किसी छलिया का अमल अनूप ।

जल-थल, मारुत, व्योम में, जो—छाया है सब जोर ।

खोज-खोजकर खो गयी मैं, पापल-प्रेम विभोर ।

भाग से भरा हुआ यह कूप ।

भरा नैनों में मन में रूप ।

धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान ।

बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्राण ।

खेलता जैसे छाया-धूप ।

भरा नैनों में मन में रूप ॥

भीमवर्मा : (सहसा प्रवेश करके) भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना !

जयमाला : उनका क्या समाचार है ?

भीमवर्मा : अभी कुछ नहीं मिला । गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं को रोका था, परंतु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई । मैं जाता हूँ, सावधान ! (जाता है / नेपथ्य में कोलाहल / भयानक शब्द)

विजया : महारानी ! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिये ।

जयमाला : (छुरी निकालकर) रक्षा करनेवाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना ?

देवसेना : भाभी ! श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं हैं, उन्हें भी दे दो ।

विजया : न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक !

देवसेना : इतनी सुंदर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने योग्य नहीं है ?

विजया : (घड़के का शब्द सुनकर) ओह ! तुम लोग बड़ी निर्दय हो !

जयमाला : जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ !

(रक्त से लथपथ भीमवर्मा का प्रवेश)

भीमवर्मा : भाभी ! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ । वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा । परंतु...

जयमाला : हम लोगों की चिंता न करो—वीर ! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना क्षत्रिय का धर्म है । एक प्रकार की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो (भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु का हृदय कँपा दो—वीर ! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भोषण सूर्य के समान—आगे पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे !

(भीमवर्मा का प्रस्थान/द्वार का टूटना/विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश/पुनः भीमवर्मा का आकर रोकना/गिरते-गिरते भीमवर्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध/सहसा स्कंदगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश/‘युवराज स्कंदगुप्त की जय’ का घोष/शक और हूण स्तंभित होते हैं)

स्कंदगुप्त : ठहरो देवियो ! स्कंद के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा । (युद्ध/शत्रु पराजित और बंदी होते हैं)

विजया : (झाँककर) अहा ! कैसी भयानक और सुंदर मूर्ति है !
 स्कंदगुप्त : (विजया को देखकर) यह—यह कौन ?
 (पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

१

(मालव में शिप्रा-तट पर कुंज में)

देवसेना : इसी पृथ्वी पर है—और अवश्य है ।

विजया : कहाँ राजकुमारी ? संसार में छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है, कृतघ्नता और पाखंड का साम्राज्य यहीं है । छोना-झपटी, नोचखसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागने वाले विकट जीव यहीं तो हैं ! श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है ।

देवसेना : (विजया की ओर) पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप । विजया ! आकाश के सुंदर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं, वे कुसुम-कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते । शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं । परंतु इसी संसार में नक्षत्र से उज्ज्वल—किंतु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं । उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है ।

विजया : होंगे, परंतु मैंने नहीं देखा ।

देवसेना : तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा ?

विजया : नहीं तो—

देवसेना : समझ कर कहो ।

विजया : ब्रौ समझ लिया ।

देवसेना : क्या तुम्हारा हृदय कभी पराजित नहीं हुआ ? विजया ! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्वेग हृदय अभिभूत नहीं हुआ ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है ।
 (जहाँ हमारी सुंदर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है—वही स्वर्ग है) वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल—स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है । (जैसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है ।)

विजया : तो राजकुमारी—मैं कह दूँ ?

देवसेना : हाँ—हाँ, तुम्हें कहना ही होगा ।

विजया : मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा । हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं—उसे कुछ राजकीय प्रभाव कह कर टाल भी सकती हूँ ।

देवसेना : विजया ! वह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता ! तुम भाग्य-वती हो, देखो यदि यह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे । (सामने देखकर) अरे लो—वह युवराज आ रहे हैं हम लोग हट चलें ।

(दोनों जाती हैं/स्कंदगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कंदगुप्त : विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की मूख मिटा देगा ? कभी नहीं । वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है । चक्रपालित ! संसार में जो सबसे महान् है, वह क्या है ? त्याग—त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है । प्राणों का मोह त्याग करना—वीरता का रहस्य है ।

चक्रपालित : युवराज ! संपूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है । वीरत्व एक स्वावलंबी गुण है । प्राणियों का विकास संभवतः इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है । जीवन में वही तो विजयी होता है जो रात-दिन 'युद्धस्व विगतज्वरः' का शंखनाद सुना करता है ।

स्कंदगुप्त : चक्र ! ऐसा जीवन तो विडंबना है, जिसके लिए रात-दिन लड़ना पड़े ! आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी दाँत-पर-दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे—लाल आँखों

से एक दूसरे को घूरा करें ! वसंत के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय ! नहीं-नहीं चक्र ! मेरी समझ में मानव जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे मैं स्वयं उसे न जान सका हूँ।

चक्रपालित : सावधान युवराज ! (प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं) वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के लिए आपने कब का समय निश्चित किया है ? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा ? पुण्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कंदगुप्त : तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्रपालित : हाँ युवराज ! मुझे यह अधिकार है।

स्कंदगुप्त : नहीं चक्र ! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा नहीं करना चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे...

चक्रपालित : ^{२८}यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केंद्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा ॥^{२८}

(चर का आकर कुछ संकेत करना/दोनों का प्रस्थान/देवसेना और विजया का प्रवेश)

विजया : यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं।

देवसेना : हाँ विजया ! युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया : दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना : कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का परदा तो नहीं हट रहा है ? क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?

विजया : राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्य-वाणों का प्रयोग कर रही हो ।

देवसेना : नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है ! धनवानों के हाथ में एक ही माप है; वे—विद्या, सौंदर्य, बल, पवित्रता—और तो क्या—हृदय को भी उसी से मापते हैं । वह माप है उनका (ऐश्वर्य) !

विजया : परंतु राजकुमारी ! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है ? अवश्य है । वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख-मंडल है ।

देवसेना : और सबसे अच्छी एक बात है—तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है । उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो—क्यों ? भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो, मेरी दलाली नहीं चलेगी ।

विजया : जाओ राजकुमारी—

देवसेना : एक गाना सुनोगी ?

विजया : महारानी खोजती होंगी, अब चलना चाहिये ।

देवसेना : तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिद्धांत नहीं जानती हो ।

विजया : क्या ?

देवसेना : नये ढंग के आभूषण, सुंदर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिये ही; परंतु एक वस्तु और चाहिये । पुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिये, धोखे की टट्टी । मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखायें मुख पर पड़ें और मूखं मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय । और फिर, दो बूंद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान—बागीश्वरी की कण्ठ-कोमल तान । बिना इसके सब रंग फीका—

विजया : उस समय भी गान ?

देवसेना : बिना गान के कोई कार्य नहीं । विश्व के प्रत्येक कंप में एक ताल है । आह ! तुमने सुना नहीं ? दुर्भाग्य तुम्हारा ! सुनोगी ?

विजया : राजकुमारी ! गाने का भी रोग होता है क्या ? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर शिर को जोर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई !

देवसेना : विजया ! (प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है । मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है । इसी से तो उसका स्वर विश्व-बीणा में शीघ्र नहीं मिलता । पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुर बोलेगा । पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकली में -- रागिनी है !)

विजया : राजकुमारी, क्या कह रही हो ?

देवसेना : तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुंदर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात वृक्ष देखा है ?

विजया : नहीं तो ।

देवसेना : उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता । वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कंप उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजाकर, झूम-झूम कर नाचता है । अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—मुनता है । उसके अंतर में जीवनशक्ति बीणा बजाती है । वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने—प्रेम-तरु-तले

बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले ।

छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,

सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय घूल,

यहाँ कौन जो छले !

फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,

मन की कथा व्यथा-भरी बँठो सुनते जाव,

बकरी जा रहे चले !

पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले—घने—प्रेम-तर-तले ।

(बंधुवर्मा का प्रवेश)

देवसेना : (संकुचित होती-सी) अरे भइया —

बंधुवर्मा : देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है !

देवसेना : रोग तो एक-न-एक सभी को लगता है । परंतु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं ।

बंधुवर्मा : पगली ! जा देख, युवराज जा रहे हैं, कुसुमपुर से कोई समाचार आया है ।

देवसेना : तब उन्हें जाना आवश्यक होगा । भाभी बुलाती हैं क्या ?

बंधुवर्मा : हां, उनकी बिदाई करनी होगी । संभवतः सिंहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा ।

देवसेना : क्या आप को ठीक नहीं मालूम ?

बंधुवर्मा : नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं । परंतु भाई के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ में नहीं आती ।

देवसेना : भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है (जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है । जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रंदन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से टाल देते हो—यह बड़ी प्रवचना है ।)

बंधुवर्मा : (हंसकर) अच्छा—जा उधर, उपदेश मत दे ! (विजया और देवसेना जाती हैं) उदार, वीर-हृदय, देवोपम-सौंदर्य, इस आर्यावर्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र-लिपियों से अंकित है । अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है । आंखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है । भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखूँ कौन विजयी होता है । परंतु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ—अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है / चलूँ—
(जाता है / दृश्यांत)

(मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग)

प्रपंचबुद्धि : बाहर देख लो, कोई है तो नहीं ।

(शर्व जाकर लौट आता है)

शर्वनाग : कोई नहीं, परंतु आप इतना चौंकते क्यों हैं ? मैं कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया है या कौन आवेगा ।

प्रपंचबुद्धि : तुम नहीं जानते ।

शर्वनाग : नहीं श्रमण, हाथ में खड्ग लिये प्रत्येक भविष्यत् की मैं प्रतीक्षा करता हूँ । जो कुछ होगा—वही निबटा लेगा । इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं । विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी ।

प्रपंचबुद्धि : प्रत्येक भित्तिके, किवाड़ के—कान होते हैं, समझ लेना चाहिये, देख लेना चाहिये ।

शर्वनाग : अच्छी बात है, कहिये !

भटार्क : पहले तुम चुप तो रहो ।

(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपंचबुद्धि : धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा ।

शर्वनाग : भिक्षु शिरोमणे ! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है ?

प्रपंचबुद्धि : यही—हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म है । यज्ञ की बलियों को रोकना, कष्टा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना । हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो । परंतु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा ।

भटार्क : क्या ?

प्रपंचबुद्धि : महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की संभावना है ।

शर्वनाग : ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी । हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क : ठहरो शर्व ! परंतु महास्थविर ! क्या उसकी अत्यंत आवश्यकता है ?

प्रपंचबुद्धि : नितांत ।

शर्वनाग : बिना इसके काम नहीं चलेगा ? धर्म नहीं प्रचारित होगा ?

प्रपंचबुद्धि : और यह काम शर्व को करना होगा ।

शर्वनाग : (चौंककर) मुझे ! मैं कदापि नहीं....।

भटार्क : शीघ्रता न करो शर्व ! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो ।

शर्वनाग : नाप-तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो । मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ—परंतु, निरीह-हत्या—यह मुझसे नहीं....!

भटार्क : मेरी आज्ञा !

शर्वनाग : तुम सैनिक हो—उठाओ तलवार ! चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें । देखें, मरने से कौन भागता है ! कायरता—अबला महादेवी की हत्या ! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो ?

भटार्क : सावधान शर्व—इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते ! या तो करो यो मरो । मैं सज्जनता का स्वांग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता । मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा ! साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे ।

शर्वनाग : नहीं भटार्क ! (लाभ के लिए ही मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था, मुझसे यह नहीं होने का)

प्रपंचबुद्धि : ठहरो भटार्क । मुझे पूछने दो । क्यों शर्व ! तुमने जो अस्वीकार किया है, वह क्यों—पाप समझ कर ?

शर्वनाग : अवश्य ।

प्रपंचबुद्धि : तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है—पवित्र है । संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके—जीने से क्या लाभ ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो ! परंतु दूसरे स्थल पर अधर्म ?

शर्वनाग : हाँ ।

प्रपंचबुद्धि : मार डालना, प्राणी का अंत कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है
केवल देश और काल का भेद है—यही न !

शर्वनाग : हाँ, ऐसा ही तो ।

प्रपंचबुद्धि : तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो,
इसी से कर्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो ।

शर्वनाग : दूसरा उपाय क्या ?

प्रपंचबुद्धि : है क्यों नहीं । हम कर्म की जाँच परिणाम से करते हैं, और यही
उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा ।

शर्वनाग : परंतु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल
पर तुम कैसे पूर्व कर्म कर सकते हो ?

प्रपंचबुद्धि : आशा पर—जो सृष्टि का रहस्य है ! आओ इसका एक प्रत्यक्ष
उदाहरण दें । (मदिरा का पात्र भरता है/स्वयं पीकर सबको
पिलाता है/बार-बार ऐसा करता है)

प्रपंचबुद्धि : क्यों, कैसी कड़वी थी ?

शर्वनाग : उँह, हृदय तक लकीर खिंच गई ।

भटार्क : परंतु अब तो एक आनंद का स्रोत हृदय में बहने लगा है ।

शर्वनाग : मैं नाचूँ (उठना चाहता है)

प्रपंचबुद्धि : ठहरो— मेरे साथ । (उठकर दोनों नाचते हैं अकस्मात् लड़खड़ाकर
प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है / चोट लगती है)

भटार्क : अरे रे ! (सम्हलकर उठाता है)

प्रपंचबुद्धि : कुछ चिंता नहीं ।

शर्वनाग : बड़ी चोट आई ।

प्रपंचबुद्धि : परंतु परिणाम अच्छा हुआ । तुम लोगों पर विपत्ति आने वाली थी ।

भटार्क : वह टल गई क्या ? (आश्चर्य से देखता है)

शर्वनाग : क्यों सेनापति टल गई ?

प्रपंचबुद्धि : उसी विपत्ति का निवारण करने के लिए मैंने यह कष्ट सहा । मैं
तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्तमान का नियामक, रक्षक
और द्रष्टा हूँ । जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो ।

भटार्क : धन्य गुरुदेव !

शर्वनाग : आश्चर्य !

भटार्क : शंका न करो, श्रद्धा करो, श्रद्धा का फल मिलेगा । शर्व, अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?

शर्वनाग : करता हूँ । जो आज्ञा होगी वही कहूँगा ।

प्रपंचबुद्धि : अच्छी बात है चलो—(सब जाते हैं)

(कुमारदास रूपी धातुसेन का प्रवेश)

कुमारदास : मैं अभी यहीं रह गया, सिंहल नहीं गया । इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई । परंतु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहाँ तो आने को था । (देखते हुए) लो—वह आ गया ।

मुद्गल : (सर्प से देखते) क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो ?

कुमारदास : (हँसकर) पहचानते नहीं ?

मुद्गल : किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है । तुम किस धातु के हो ?

कुमारदास : भाई, सोना अत्यंत घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है । मूल्य भी बहुत लगता है । इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है । मैं सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है 'लोहा' ।

मुद्गल : तब तुम लोहे के हो ?

कुमारदास : लोहा बड़ा कठोर होता है । कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है । उहूँ, भाई ! मैं तो मिट्टी हूँ मिट्टी जिसमें से सब निकलते हैं । मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बन कर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी हो जाते हैं । इसलिए मुझे मिट्टी समझो—धूल समझो । परंतु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा ?

मुद्गल : मुक्ति का उपाय ! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवाले की चोट से गिर जाने में और शूद्रों की— हम तीनों की ठोकरी से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

कुमारदास : तुमने ठीक सोचा आज अर्द्धरात्रि में— कारागार में।

मुद्गल : कुछ चिंता नहीं, चलो युवराज आ गये हैं।

कुमारदास : मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

(दोनों का प्रस्थान/दृश्यांत)

३

(देवकी के राजमंदिर का बाहरी भाग/मदिरोन्मत शर्वनाग का प्रवेश)

शर्वनाग : कादंब, कामिनी, कंचन— वर्णमाला के पहले अक्षर ! करना होगा ! इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म क्यों करें ? 'कर्म' में एक 'कु' और जोड़ दें—तो अच्छी वर्णमैत्री होगी ! (लड़खड़ाते हुए) कादंब ! ओह प्यास ! (प्याले में मदिरा उड़ेलता है) लाल—यह क्या रक्त ? आह ! कैसी भीषण कमनीयता है ! लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका ? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरे रे, नहीं, दुर्बल नारी—उँह, यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, सामने सोने का संसार खड़ा है !

रामा : (प्रवेश करके) पामर ! सोने की लंका राख हो गई।

शर्वनाग : उसमें मदिरा न रही होगी, सुंदरी !

रामा : मदिरा का समुद्र उफन रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही तो लंका बसी थी !

शर्वनाग : तब, उसमें तुम जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो— स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल ?

रामा : स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आखें फाड़कर देखते हैं—जैसे खा जायेंगे । में कोई हूँ !

शर्वनाग : (सुंदरी ! यह तुम्हारा ही दोष है । तुम लोगों का वेश-विन्यास, आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने में एक क्रीड़ा, एक कौतूहल, पुकार कर—टोक कर कहते हैं—‘हमें देखो’—क्या करें हम, देखते ही बनता है)

रामा : दुर्वृत्त मद्यप ! तू अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है ? परस्त्री समझ कर उसे छेड़ता है !

शर्वनाग : (सम्बलकर) अयँ ! अरे—ओह ! मेरी रामा, तुम हो ?

रामा : हाँ, मैं हूँ ।

शर्वनाग : (हँसकर) तभी तो—मैं तुमको जान कर ही बोला, नहीं भला मैं किसी परस्त्री से—(जीभ निकालकर कान पकड़ता है)

रामा : अच्छा, यह तो बताओ, कादंब पीना कहाँ से सीखा ? और यह क्या बकते थे ?

शर्वनाग : अरे प्रिये ! तुम से न कहूँगा तो किससे कहूँगा सुनो—

रामा : हाँ हाँ, कहो

शर्वनाग : (निकट जाकर) तुमको रानी बनाऊँगा ।

रामा : (चौंककर) क्या ?

शर्वनाग : (और निकट जाकर) तुम्हें सोने से लाद दूँगा ।

रामा : किस तरह ?

शर्वनाग : यह भी बतला दूँ ? तुम नित्य कहती हो कि ‘तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है’—तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ ।

रामा : अरे कहो भी !

शर्वनाग : वह पीछे बताऊँगा । आज तुम महादेवी के बंदीगृह में न जाना, समझा न ?

रामा : (उत्सुकता से) क्यों ?

शर्वनाग : सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना, क्योंकि आज

वहाँ जो कांड होगा, उसे तुम देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ।

रामा : (डरती हुई) क्या करोगे तुम ? पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो तुम—क्या करोगे—बोलो !

शर्वनाग : (मद्यपान करता हुआ) हत्या—थोड़ी-सी मदिरा दे—शीघ्र दे ! नहीं तो छुरा भोंक दूँगा। ओह—मेरा नशा उखड़ा जा रहा है !

रामा : आज तुम्हें क्या हो गया है—मेरे स्वामी ! मेरे...

शर्वनाग : अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ। सोना मिलने से सब हो जाऊँगा, इसी का उद्योग कर रहा हूँ। (इधर-उधर देखते सुराहीनिकालकर पीता है)

रामा : ओह ! मैं समझ गई ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुंदर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया। रक्त पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गंध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है—उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो—नहीं करने पावेगा।

शर्वनाग : क्या तू—ओ—तू...

रामा : हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी। ले मुझे ही मार ले हत्यारे ! मद्यप ! तेरी रक्त-पिपासा शांत हो जाय। परंतु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आंधी बन कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर तांडव नृत्य करूँगी। मान जा—इसी में तेरा भला है।

शर्वनाग : अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठाकरों से हटा दिया जायगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा ?

रामा : मैं दूँगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना

स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप में चाहिये । (पैर पड़ती है)
स्वामी ! (हिंस-पशु भी जिनसे पाले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते; अरे तुम तो मस्तिष्क रखने वाले मनुष्य हो ।)

शर्वनाग : (ठुकरा देता है) जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्यायें करनी पड़ेगी ! मैं प्रतिश्रुत हूँ, बचन दे चुका हूँ !

रामा : (प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा यह झूठा सत्य है ! ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता, ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं । स्वामी ! मान जाओ ।

शर्वनाग : ओह, विलंब होता है, तो पहले तू ही ले— (पकड़ना और मारना चाहता है/रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ा कर भाग जाती है)
(अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश)

भटार्क : शर्व !

शर्व : जय हो ! मैं प्रस्तुत हूँ, परंतु मेरी स्त्री इसमें बाधा डालना चाहती है । मैं पहले उसी को पकड़ना चाहता था, परंतु वह भगी ।

अनंतदेवी : सौगंध है ! तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा ।
प्रपंचबुद्धि : शर्व ! तुम तो स्त्री नहीं हो ।

शर्वनाग : नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूँ परंतु...

भटार्क : तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का यह प्रमाण-पत्र प्रस्तुत है (दिखाता है) काम हो जाने पर—

शर्वनाग : तब शीघ्र चलिये, दुष्टा रामा भी पहुँच गयी होगी ।

(सब जाते हैं/दृश्यांत)

४

(बंदीगृह में देवकी और रामा)

रामा : महादेवी ! मैं लज्जा के गर्त में डूब रही हूँ । मुझे कृतज्ञता और सेवा-धर्म धिक्कार दे रहे हैं । मेरा स्वामी...

देवकी : शांत हो रामा ! बुरे दिन कहते किसे हैं ? जब स्वजन लोग अपने

शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलंबन करें—तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुंब की ओर आँख उठाकर देखे। इसलिए इस कठोर समय में भगवान् की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा : महादेवी ! परंतु आप की क्या दशा होगी ?

देवकी : मेरी दशा ? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने बचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया—अपना स्निग्ध अंचल—सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिये रहती है।

रामा : परंतु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और...

देवकी : न घबरा रामा ! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दृष्टांत प्रेतों और क्रूर पिशाचों का त्रास—उनकी ज्वाला—दयामय की कृपा-दृष्टि के एक बिंदु से शांत होती है।

(नेपथ्य से गान)

पालना बनें प्रलय की लहरें ?

शीतल हो ज्वाला की आँधी, करुणा के धन छहरें।

दया दुलार करे, पल भर भी—विपदा पास न ठहरे।

प्रभु का हो विश्वास सत्य, तो सुख का केतन फहरे।

(भटार्क आदि के साथ अनंतदेवी का प्रवेश)

अनंतदेवी : परंतु व्यंग-विष की ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी !
तुम मरने के लिये प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी : क्या तुम मेरी हत्या करोगी ?

प्रपंचबुद्धि : हाँ ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्तल में भी नहीं बचने पावेगा; और उस महाबलिदान का आरंभ होगा—तुम्हीं से। शर्व ! आगे बढ़ो—

रामा : (सम्मुख आकर) एक शर्व नहीं, तुम्हारे—जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आवें तो भी आज महादेवी का अंगस्पर्श—कोई न कर सकेगा। (छुरी निकालती है)

शर्वनाग : मैं तेरा स्वामी हूँ रामा ! क्या तू मेरी हत्या करेगी ?

रामा : ओह ! बड़ी धर्मबुद्धि जगी है—पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन हैं ?

शर्वनाग : फिर भी मैं तेरा...

रामा : स्वामी ! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी का नरकवासी प्रेत है । तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है ।

देवकी : शांत हो रामा ! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती । चलरे, रक्त के प्यासे कुत्ते ! चल अपना काम कर ।
(शर्व आगे बढ़ता है)

अनंतदेवी : क्यों देवकी ! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई ?

देवकी : परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी ।

भटार्क : भगवान् का स्मरण कर लो ।

देवकी : मेरे अंतर की कर्षण-कामना एक थी—स्कंद को देख लूँ । परंतु तुम लोगों से—हत्यारों से—मैं उसके लिए भी, प्रार्थना न करूँगी । प्रार्थना उसी विश्वंभर के श्री चरणों में है, जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कंद को सदैव सुरक्षित रखेगा ।

शर्वनाग : अच्छा तो (खड्ग उठाता है / रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है) हट जा अभागिनी !

रामा : मूर्ख ! अभाग कौन है—जो संसार के सब से पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है—और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान् है—वह या मैं ?

शर्वनाग : कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे !

रामा : टुकड़े का लोभी ! तू सती का अपमान करे, तेरी यह स्पर्धा ? तू कीड़ों से भी तुच्छ है । पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी ।

अनंतदेवी : (क्रोध से) तो पहले इसी का अंत करो शर्व ! शीघ्रता करो ।

शर्वनाग : अच्छा तो वही होगा (प्रहार करने पर उछल होता है / किवाड़ तोड़-

कर स्कंद भीतर घुस आता है, पीछे मुद्गल और कुमारदास रूपी धातुसेन आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है)

स्कंदगुप्त : (भटार्क से) क्यों रे नीच पशु ! तेरी क्या इच्छा है ?

भटार्क : राजकुमार ! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये ।

स्कंदगुप्त : तू वीर है ? अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने वाले चोर—तुझे भी वीरता का अभिमान है—तो द्वंद्वयुद्ध के लिए आमंत्रित करता हूँ—बचा अपने को ! (भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है)

स्कंदगुप्त : मेरी सौतेली माँ तु... ?

अनंतदेवी : स्कंद ! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ ।

(घुटनों के बल बैठ कर हाथ जोड़ती है)

स्कंदगुप्त : अनंतदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो । जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परंतु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असंभव है । (देवकी के चरणों पर झुकते हुए) अहा ! मेरी, माँ !

देवकी : (आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स ।

(दृश्यांत)

५

(अवंती-दुर्ग का एक भाग बंधुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश)

बंधुवर्मा : वत्स भीम ! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीमवर्मा : तात ! आप की इच्छा—मैं तो आपका अनुचर हूँ ।

जयमाला : परंतु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी मालव के बिना काम नहीं चलेगा क्या—

बंधुवर्मा : देवि ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है । यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस

राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं, परंतु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी, उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलंब शेष था—तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी, यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीमवर्मा : परंतु क्या वे माँगते हैं ?

बंधुवर्मा : नहीं भीम ! युवराज स्कंद ऐसे क्षुद्र हृदय नहीं, उन्होंने पुरगुप्त को—उस जघन्य अपराध पर भी, मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला : परंतु तुम्हारा मालव उन्हें प्रिय है !

बंधुवर्मा : देवि, तुम नहीं देखती हो कि आर्यावर्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है, आर्य-साम्राज्य के अंतर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की संभावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य-राष्ट्र के त्राण के लिए, युवराज उज्जयिनी में रहें—इसी में सबका कल्याण है। आर्यावर्त का जीवन केवल स्कंदगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा—सम्राट् होंगे स्कंदगुप्त !

जयमाला : आर्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निःसंकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है ? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा ?

बंधुवर्मा : (सिर झुकाकर सोचते हुए) तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी—वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी—इसका मुखे स्वप्न में भी ध्यान न था !

जयमाला : यदि होता ?

बंधुवर्मा : तब मैं इस कुटुंब की कमनीय कल्पना को दूर से ही नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये ! जो केवल

खड्ग का अवलंब रखने वाले सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्मा : भैया—तब ?

बंधुवर्मा : भीम ! क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिङ्गन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और—और विपन्नों के लिए—अपने धर्म के लिए—देश के लिए, प्राण देना !

देवसेना : (सहसा प्रवेश करके) भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है ! क्षुद्र स्वार्थ—भाभी जाने दो, भैया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !

जयमाला : देवसेना ! सिंघाट में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो ?

बंधुवर्मा : ठहरो जयमाला ! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला ! इसके वशीभूत होकर हम अत्यंत पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर हो जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं—जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीमवर्मा : भाभी ! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए—एक कुटुंब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो भाभी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा आर्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें...

जयमाला : जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।

बंधुवर्मा : तब मालवेश्वरी की जय हो, तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो।
बंधुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण
पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य सुख हो।
(चलने को उद्यत होता है)

भीमवर्मा : ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित : (प्रवेश करके) धन्य वीर ! तुमने क्षत्रिय का शिर ऊँचा किया है।
बंधुवर्मा ! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनंदन करते हैं।
रण में, वन में, विपत्ति में, आनंद में, हम सब सहभागी होंगे।
धन्य तुम्हारी जननी - जिसने आर्य-राष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक
उत्पन्न किया।

बंधुवर्मा : स्वागत चक्र ! मालवेश्वरी की जय हो ! अब हम सब सैनिक
जाते हैं।

चक्रपालित : ठहरो बंधु ! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी-
अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम
भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।

बंधुवर्मा : संभवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा-रक्षा करेंगे।

चक्रपालित : हाँ बंधु !

देवसेना : चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा कहूँगी।

जयमाला : (घुटने टेक कर) मालवेश्वर की जय हो ! प्रजा ने अपराध
किया है, दंड दीजिये। पतिदेव ! आप की दासी क्षमा माँगती है।
मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है—वह विश्व-
साम्राज्य से भी ऊँचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्—
धन्य हूँ मैं ! (बंधुवर्मा सिर पर हाथ रखता है)

(दृश्यांत)

(पथ में भटार्क और उसकी माता)

कमला : तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क : माँ संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किसलिए? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है—और वह जीवित है !

कमला : और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई, मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा—म्लेच्छों से पद-दलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा, मेरा शिर ऊँचा होगा। परंतु हाय !

भटार्क : माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड़गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते। क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते।

कमला : मानते हैं—इसी से तो और ग्लानि है।

भटार्क : घर लौट चलो माँ ! ग्लानि क्यों है।

कमला : इसलिए कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न ! कमला कलंकिनी हो सकती है, परंतु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त में नहीं। (रोती है)

(विजया का प्रवेश)

विजया : माता ! तुम क्यों रो रही हो ? (भटार्क की ओर देखकर) और यह कौन ? क्यों जी—तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है।

कमला : देवि ! यह मेरा पुत्र था।

विजया : था ! क्या अब नहीं ?

कमला : नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने के लालच में अपने हाथ-पैर

पाप की शृंखला में जकड़ दिये; अब फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यंत्र के लिए।

विजया : कौन—तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ! और तुम्हारी माता की यह दीन दशा !

कमला : ना बेटी ! उसे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ। महाकाल के मंदिर में भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी में पड़ी रहूँगी, परंतु इससे...

भटार्क : माँ ! अब और लज्जित न करो। चलो—घर चलो।

विजया : (स्वगत) अहा ! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है ! और गुप्तसाम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला : इस पिशाच ने छलने के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होने वाला है, यह उसी में कोई प्रपंच रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।
(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविंदगुप्त का प्रवेश)

मुद्गल : कौन ! भटार्क।

मातृगुप्त : अरे यहाँ भी !

(भटार्क तलवार निकालता है/गोविंदगुप्त छीन लेते हैं)

मुद्गल : महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय !

गोविंदगुप्त (कृतघ्न ! वीरता उन्माद नहीं है—आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है) उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय ! तू उसे कुचलने पर शिर ऊँचा उठाकर नहीं रह सकता, मातृगुप्त—बंदी करो इसे। (कमला के प्रति) और तुम कौन हो भद्रे !

कमला : मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविंदगुप्त : यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवि ! तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्यराष्ट्र का विनाश असंभव है—और वह युवती कौन है।

कमला : मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है
इसका कोई अपराध नहीं ।

मुद्गल : अरे राम ! यह भी अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी !

मातृगुप्त : परंतु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है !

विजया : मैं अपराधिनी हूँ; मुझे भी बंदी करो ।

भटार्क : यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ— इसका
कोई अपराध नहीं ।

विजया : (स्वगत) ओह ! इस आनंद महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं
मालव में अब किस काम की हूँ ! जिसके भाई ने समस्त राज्य
का अर्पण कर दिया है— वह देवसेना और कहाँ मैं ! (भटार्क
की ओर देखती हुई) तब तो मेरा यही...

गोविंदगुप्त : भद्रे ! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो ।

विजया : मैं अपराधिनी हूँ ।

मातृगुप्त : परंतु तुम्हारा और भी कोई परिचय है ?

विजया : यही कि बंदी होने की अभिलाषिणी हूँ ।

कमला : वत्से ! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो ?

विजया : मेरी इच्छा— मुझे बंदी कीजिये । मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण
में दूंगी— यहाँ कुछ न कहूँगी । यहाँ मेरा अपमान किया जायगा
तो आर्य्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी ।

गोविंदगुप्त : क्यों भटार्क ! यदि तुम्हीं कुछ कहते—

भटार्क : मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है । मुझे भी विलंब हो रहा
है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिए ।

मुद्गल : और वृद्धा कमला ?

गोविंदगुप्त : यह बंदी नहीं है, परंतु एक बार स्कंद के समक्ष उसे चलना होगा ।

मातृगुप्त : तो फिर सब चलें—अभिषेक का समय भी समीप है ।

(सब जाते हैं/दृश्यंत)

(उज्जयिनी की राजसभा / बंधुवर्मा, भीमवर्मा, मातृ-
गुप्त तथा मुद्गल के साथ एक ओर से स्कंदगुप्त का
और दूसरी ओर से गोविंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : (बीच में खड़े होकर) तात ! कहाँ थे ? इस बालक पर अकारण
क्रोध करके कहाँ छिपे थे ? (चरण-बंदना करता है)

गोविंदगुप्त : उठो वत्स ! आर्य्य चंद्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति ! गुप्तकुल-
तिलक ! भाई से मैं रूठ गया था, परंतु तुमसे कदापि नहीं, तुम
मेरे आत्मा हो वत्स ! (आर्लिगन करता है)

(अनुचरियों सहित देवकी का प्रवेश/स्कंद चरणबंदना करता है)

देवकी : वत्स ! चिरविजयी हो ! देवता तुम्हारे रक्षक हों ! महाराजपुत्र !
इसे आशीर्वाद दीजिये कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह विनय-
शील रहे ।

गोविंदगुप्त : महादेवी ! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न—यह गुप्त कुल के
अभिमान का चिह्न—सदैव यशोमंडित रहेगा !

स्कंदगुप्त : (बंधुवर्मा से) मित्र मालवेश ! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो ! हम लोग
तुम्हारा अभिनंदन करें ।

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश)

जयमाला : देव ! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार
नहीं । आर्य्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव
के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता ।

(‘मालव की जय हो’ की तुमुल ध्वनि)

बंधुवर्मा : (हँसकर) सम्राट् ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग
दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए सिंहासन ग्रहण करने
में अब विलंब न कीजिये ।

गोविंदगुप्त : वत्स ! इन आर्य्य-जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूँ ।
इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं । बढ़ो—वत्स !
सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ ।



स्कंदगुप्त : तात ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं, अंतर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्ज्वलित है, ऐसे समय मैं केवल सैनिक बन सकूंगा, सम्राट् नहीं।

गोविंदगुप्त : आज, आर्य्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है—सैनिक छोड़कर और कुछ नहीं। आर्य्य-कन्यायें अपहरण की जाती हैं, हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रांत है; कहीं देवता की पूजा नहीं होती—सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। ऐसे समय आर्य्य-जाति तुम्हें पुकारती है—सम्राट् होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए—सम्राट् ! (गोविंदगुप्त और बंधुवर्मा हाथ पकड़कर स्कंदगुप्त को सिंहासन पर बैठाते हैं/भीमवर्मा छत्र लेकर बैठता है / देवसेना चमर करती है / गरुडध्वज लेकर बंधुवर्मा खड़े होते हैं / देवकी राजतिलक करती है / गोविंदगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं / चक्रपालित गरुडांकित राजदंड देता है)

गोविंदगुप्त : परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय हो !

सब : (समवेत स्वर से) जय हो !

बंधुवर्मा : आर्य्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविंदगुप्त की जय हो ! (सब बैसा ही कहते हैं)

स्कंदगुप्त : आर्य्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्य्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से—स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।

गोविंदगुप्त : सम्राट् ! परमात्मा की असीम अनुकंपा से आपका उद्देश्य सफल हो। आज गोविंद ने अपना कर्त्तव्य पालन किया। वत्स बंधुवर्मा ! तुम इस नवीन आर्य्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरवगाथा आर्य्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेंगी। वीर ! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो।

बंधुवर्मा : आर्य्य अभी आपके चरणों में बैठ कर वह बालक स्वदेश सेवा

की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुंब—एक-एक बच्चा—आर्य्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।

(धन्य-धन्य का घोष)

स्कंदगुप्त : तात ! पर्णदत्त इस समय नहीं !

चक्रपालित : सम्राट् ! वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

(कुमारदास रूपी धातुसेन का प्रवेश)

मातृगुप्त : सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो !

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

स्कंदगुप्त : कुमारदास—सिंहल के युवराज धातुसेन !

मातृगुप्त : हाँ महाराजाधिराज !

स्कंदगुप्त : अद्भुत ! वीर युवराज ! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता है ? आओ, स्वागत ! (सब मंचों पर बैठते हैं)

गोविंदगुप्त : बंदियों को ले आओ।

(सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : क्यों शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्वनाग : सम्राट् ! वध की आज्ञा दीजिये, मेरे जैसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है।

स्कंदगुप्त : नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दंड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्वनाग : वही हो सम्राट् ! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कंदगुप्त : परंतु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योंकि रामा साध्वी रामा को—मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा ! सती रामा ! तेरे पुण्य से तेरा पति, आज मृत्यु से बचा !

(रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है)

शर्वनाग : दुहाई सम्राट् की—मेरे वध की आज्ञा दीजिये, नहीं तो आत्महत्या

करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया—ओह !
(छुरी निकालना चाहता है)

स्कंदगुप्त : ठहरो शर्व ! मैं तुम्हें आजीवन बंदी बनाऊँगा।
(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है)

स्कंदगुप्त : शर्व ! यहाँ आओ। (शर्व समीप आता है)

देवकी : वरस ! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिसमें
दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।
(समवेत कंठ से महादेवी की जय हो)

स्कंदगुप्त : शर्व ! आज से तुम अंतर्वेद के विषयपति नियत किये गये।
यह लो—(खड्ग देता है)

शर्वनाग : (खड्ग लेते रुद्ध कंठ से) सम्राट् ! देवता ! आप की जय हो !
(देवकी के पैर पर गिर कर) मुझे क्षमा करो माँ ! मैं मनुष्य
से पशु हो गया था ! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ।
आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि देव-चरणों में आत्मबलि देकर
जीवन को सफल करूँ !

देवकी : उठो शर्व (क्षमा पूर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास
नहीं मिलती।) प्रतिहिंसा-पाशव धर्म है। उठो, मैं तुम्हें क्षमा
करती हूँ। (शर्व खड़ा होता है)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! तुम गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये
थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में
सम्मिलित थे ! यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क : मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी : क्यों भटार्क ! यह उत्तर तुम सच्चे हृदय से देते हो ? ऐसा
कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए क्या औरों को भी
प्रवंचित नहीं कर रहे हो ?

भटार्क : अपराध हुआ। (शिर नीचा कर लेता है)

स्कंदगुप्त : तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर
(५) तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है।

तुम्हारा इतना पतन ? (भटार्क स्तब्ध रहता है / विजया की ओर देखकर) और तुम विजया ? तुम क्यों इसमें—

देवसेना : सम्राट् ! विजया मेरी सखी है ।

विजया : परंतु मैंने भटार्क को वरण किया है ।

जयमाला : विजया !

विजया : कर चुकी देवि !

देवसेना : उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज ! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतने नीचे गिरा सकती है ! परंतु विजया तूने शीघ्रता की ।

(स्कंद विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है)

गोविंदगुप्त : यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है ! भटार्क के नीच कर्म से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है ।

स्कंदगुप्त : परंतु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना : (स्वगत) आह ! जिसकी मुझे आशंका थी—वही है—विजया, आज तू हार कर भी जीत गयी ।

देवकी : वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे । तुम्हारी माता की यही मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन-दंड क्षमा के संकेत पर चला करे । आज मैं सबके लिए क्षमा प्रार्थिनी हूँ ।

धातुसेन : आर्य्यनारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का शिर ऊँचा रहेगा ।

स्कंदगुप्त : जैसी माता की इच्छा—

मातृगुप्त : परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !
(समवेत कंठ से जयघोष)

(पटाक्षेप)

तृतीय अंक

१

(शिप्रा तट)

प्रपंचबुद्धि : सब विफल हुआ । इस दुरात्मा स्कंदगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगा दी । कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनंतदेवी अपने विडंबना के दिन बिता रहे हैं । भटार्क भी बंदी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं । क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म को उठाने को आकांक्षा थी, परंतु वह दूर गया । (कुछ सोचकर) उग्रतारा की साधना से विकट से विकट कार्य भी सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल के महाशमशान से बढ़कर कौन उप-युक्त स्थान होगा ! चलूँ (जाना चाहता है / भटार्क का प्रवेश)।

भटार्क : भिक्षुशिरोमणे ! प्रणाम !

प्रपंचबुद्धि : कौन, भटार्क ? अरे मैं क्या स्वप्न देख रहा हूँ !

भटार्क : नहीं आर्य—मैं जीविन हूँ ।

प्रपंचबुद्धि : उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया ।

भटार्क : नहीं, उससे बढ़कर !

प्रपंचबुद्धि : क्या ?

भटार्क : मुझे अपमानित करके क्षमा किया । मेरी वीरता पर एक दुर्बल उपकार का बोझ लाद दिया ।

प्रपंचबुद्धि : तुम मूर्ख हो । शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण ।

भटार्क : मैं इतना नीच नहीं हूँ !

प्रपंचबुद्धि : परंतु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ— तुम इतने उच्च भी नहीं हो । चलो एकांत में बातें करें । कोई आता है । (दोनों जाते हैं)

विजया : (प्रवेश करते) मैं कहाँ जाऊँ । उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूँगी—अपने बाहुपाश में उसे जकड़ सकूँगी ? हृदय के विकल मनोरथ—आह ! (गाती है)

उमड़ कर चली भिगोने आज तुम्हारा निश्चल अंचल छोड़
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल देख ले तू फिरकर इस ओर
हृदय की अंतरतम मुसक्यान कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन निरखते इन आँखों की कोर—

वह कौन ? ओ ? राजकुमारी ?

(देवसेना का प्रवेश / दूर पर उसकी परिचारिकायें)

देवसेना : विजया ! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रातट पर तुम भी आ गई हो !

विजया : हाँ, राजकुमारी । (शिर झुका लेती है)

देवसेना : विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था ।

विजया : पूछना क्या है ?

देवसेना : तुमने जो किया उसे सोच-समझ कर किया है—कहीं तुम्हारे दंभ
ने तुमको छल तो नहीं लिया ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें
विपथगामिनी तो नहीं बना दिया ?

विजया : राजकुमारी ! मैं अनुगृहीत हूँ । उस कृपा को नहीं भूल सकती जो
आपने दिखाई है । परंतु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना
ठीक नहीं ।

देवसेना : (आश्चर्य से) क्यों विजया । मेरे सखीजनोचित सरल प्रश्नों में भी
तुम्हें व्यंग सुनाई पड़ता है ?

विजया : क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है ? (सरोष) राजकुमारी !
आज से मेरी ओर देखना मत । मुझे कृत्या—अभिशाप की ज्वाला
समझना और...

देवसेना : ठहरो, दम ले लो ! संदेह के गर्त में गिरने से पहले विवेक का
अवलंब ले लो—विजया !

विजया : हताश जीवन कितना भयानक होता है— यह नहीं जानती हो ? उस
दिन जिस तीखी छुरी को न रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही
थी मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था । राज-
कुमारी ! मुझे न छेड़ना । मैं तुम्हारी शत्रु हूँ । (क्रोध से देखती है)

देवसेना : (आश्चर्य से) क्या कह रही हो ?

विजया : वही जिसे तुम सुन रही हो ।

देवसेना : वह तो जैसे उन्मत्ता का प्रलाप था अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी । विजया ! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी—मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये ।

विजया : उपकारों की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया ।

देवसेना : शीघ्रता करने वाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक । देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती...। अच्छा इससे क्या । (जाती है)

विजया : जाती हो, परंतु सावधान !

(भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश)

भटार्क : विजया ! तुम कब आई हो ?

विजया : अभी-अभी तुम्हीं को तो खोज रही थी । (प्रपंचबुद्धि को देखकर) आप कौन है ?

भटार्क : 'योगाचार संघ' के प्रधान भ्रमण आर्य्य प्रपंचबुद्धि ।

(विजया नमस्कार करती है)

प्रपंचबुद्धि : कल्याण हो देवि ! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परंतु मुझे भी जान जाओगी ।

विजया : आर्य्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है ।

प्रपंचबुद्धि : शुभे ! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करें ! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ? (कुछ सोचकर) तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने से विघ्न और विलंब है । इसलिए तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा ।

विजया : आर्य्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है ।

प्रपंचबुद्धि : क्या ?

विजया : राजकुमारी देवसेना का अंत !

प्रपंचबुद्धि : और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान में एक राज-बलि चाहिए !

भटार्क : यह तो अच्छा सुयोग है ।

विजया : उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है, आगे मैं कुछ न कर सकूंगी ।

प्रपंचबुद्धि : सब हो जायगा । उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसम्पन्न होगा ।

भटार्क : परंतु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कंदगुप्त से मैं किस मुँह से '...नहीं'... नहीं'...

प्रपंचबुद्धि : सावधान ! भटार्क ! अलग ले जाकर इतना समझाया फिर भी '... ! तुम पहले अनंतदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो ।

भटार्क : ओह ! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य की छुट्टी नहीं ! कुर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है ! दुर्भाग्य !
(सबका प्रस्थान)

मातृगुप्त : (ओटसे निकल कर) भयानक कुचक्र ! एक निर्मल कुसुम-कली को कुवलने के लिए इतनी बड़ी प्रताड़ना की चक्की ? मनुष्य ! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को ! तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन हैं - छल, कपट, विश्वास-घात, कृतघ्नता और पैसे अस्त्र । इनसे भी बढ़कर प्राण लेने की कला-कुशलता । देखा जायगा, भटार्क ! तुम जाते कहाँ हो !
(प्रस्थान)

(दृश्यांत)

२ ..

२२/५/८८

(श्मशान-साधक के रूप में प्रपंचबुद्धि/दूर से स्कंदगुप्त आता है)

स्कंदगुप्त : इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति ! केवल मेरे अस्तित्व से ? मालूम होता है कि सब की—विश्व-भर की—शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता—तो यह संसार अपनी स्वाभाविक

गति से—आनंद से, चला करता। परंतु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं—बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त-सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अंतःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया...? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा! जिसे हमने सुख-शर्वरी की संध्या-तारा के समान पहले देखा, वही उत्कापिड होकर दिगंत-दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया! (प्रपंचबुद्धि को देखकर) ओह! कैसा भयानक मनुष्य है। कैसी क्रूर आकृति है—मूर्तिमान पिशाच है! अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखूँ।
(छिपता है/विजया के साथ देवसेना का प्रवेश)

देवसेना : आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो ?

विजया : और तुम राजकुमारी ? क्या तुम इस महाबीभत्स श्मशान में आने से नहीं डरती हो ?

देवसेना : संसार का मूक शिक्षक—श्मशान—क्या डरने की वस्तु है ?
जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुंदर स्थल और कौन है ?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है। धूप-छाँह के खेल-सदृश—सब०
समय भागता है प्रतिक्षण में, नव-अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में, आप कहाँ छिप जाता है—सब०
बुल्ले, लहर, हवा के झोंके, मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके, जीवन का वह नाता है—सब०
वंशी को बस बज जाने दो, मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बंद करके गाने दो, जो कुछ हमको आता है—सब०

विजया : (स्वगत) भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-
सी कुमारी...आह ! कैसा भोला मुखड़ा ! पर नहीं, नहीं
विजया ! सावधान ! प्रतिहिंसा... (प्रकट) राजकुमारी ! देखो,
यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी ?

देवसेना : चलो, परंतु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन ? जब मेरी कामनायें
विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही
हो तो क्या ? तब भी एक कुतूहल है ! चलो—

(विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है और
स्वयं हट जाती है/ध्यान से आँखें खोल कर प्रपंच उसे देखता है)

प्रपंचबुद्धि : तुम्हारा नाम देवसेना है ?

देवसेना : (आश्चर्य से) हाँ, भगवन् !

प्रपंचबुद्धि : तुमको देवसेवा के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा । तुम्हारी ललाट-
लिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो !

देवसेना : कौन-सी देवसेवा ?

प्रपंचबुद्धि : यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका
और न करने की आशा है, देवसेवा में अर्पित करो ! उग्रतारा
तुम्हारा परम मंगल करेगी ।

देवसेना : (सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी । (घूम कर
देखती है) विजया ! विजया !

प्रपंचबुद्धि : डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था । नित्य की मोह-ज्वाला में
जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती
हुई अपनी ज्वाला को शांत कर दो !

देवसेना : परंतु...कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है । वह
पूर्ण नहीं हुई । मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा
है । विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी । उसे भ्रम है,
यदि वह छूट जाता ।

प्रपंचबुद्धि : (उठ कर उसका हाथ पकड़ कर खड़ा उठाता है) पर मुझे ठहरने
का अवकाश नहीं । उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो !

देवसेना : प्रियतम ! मेरे देवता ! युवराज ! तुम्हारी जय हो ! (सिर झुकाती है/पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच को पकड़ ले जाता है/देवसेना चकित होकर सहसा उपस्थित स्कंद का आलिंगन करती है)

(वृथांत)

३

(मगध के राजमंदिर में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क)

पुरगुप्त : विजय-पर-विजय ! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फिर पहरायेगी । गरुडध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा ।

अनंतदेवी : परंतु तुमको क्या । निर्वीर्य—निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा के गर्त में डूब नहीं जाते—और भी छाती फुला कर इसका आनंद मनाते हो !

विजया : अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनदन कर सकती !

भटार्क : यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा !

दौवारिक : (प्रवेश करके) जय हो ! एक चर आया है ।

भटार्क : ले आओ ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)

चर : युवराज की जय हो !

भटार्क : तुम कहाँ से आये हो ?

चर : नगरहार के हूण स्कंधावार से ।

भटार्क : क्या संदेश है ।

चर : सेनापति खिगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है । परंतु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा स्कंदगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस तो पीछे होगा पहले—कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायगा । प्रतिष्ठान, चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को विद्रोह

करने के लिए धन-परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अंतर्वेद के विषयपति की कुटिल-दृष्टि ने उस रहस्य का उद्घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिंधु का तट भी छोड़ देना पड़ा ।

भटार्क : ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया । आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है । दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में उन्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी ।

चर : परंतु उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क : मैं प्रमाण-पत्र दूंगा । हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है । मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूंगा । वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा—और यह तो प्रमाण-पत्र । (पत्र लिख कर देता है)

पुरगुप्त : ठहरो !

अनंतदेवी : चुप रहो !

दूत : तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है । (रत्नमंजूषा देता है)

भटार्क : और उत्तराण्य के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या किया है ?

दूत : आर्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ । सद्धर्म के समस्त अनुयायी और संघ, स्कंदगुप्त के विरुद्ध हैं । याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है । वे सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं ।

भटार्क : अच्छा, जाओ । नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा । हूणराज से कहना कि सावधान रहें—शीघ्र वहीं मिलूंगा ।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त : यह क्या हो रहा है ?

अनंतदेवी : तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है !

देवसेना : प्रियतम ! मेरे देवता ! युवराज ! तुम्हारी जय हो ! (सिर झुकाती है/पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच को पकड़ ले जाता है/देवसेना चकित होकर सहसा उपस्थित स्कंद का आलिंगन करती है)

(दृश्यांत)

३

(मगध के राजमंदिर में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क)

पुरगुप्त : विजय-पर-विजय ! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फिर पहरायेगी । गरुडध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा ।

अनंतदेवी : परंतु तुमको क्या । निर्वीर्य—निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा के गर्त में डूब नहीं जाते—और भी छाती फुला कर इसका आनंद मनाते हो !

विजया : अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनंदन कर सकती !

भटार्क : यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा !

दौवारिक : (प्रवेश करके) जय हो ! एक चर आया है ।

भटार्क : ले आओ ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)

चर : युवराज की जय हो !

भटार्क : तुम कहाँ से आये हो ?

चर : नगरहार के हूण स्कंधावार से ।

भटार्क : क्या संदेश है ।

चर : सेनापति खिगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है । परंतु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा स्कंदगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस तो पीछे होगा पहले—कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायगा । प्रतिष्ठान, चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को बिद्रोह

करने के लिए धन-परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अंतर्वेद के विषयपति की कुटिल-दृष्टि ने उस रहस्य का उद्घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिंधु का तट भी छोड़ देना पड़ा ।

भटार्क : ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया । आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है । दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में उन्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी ।

चर : परंतु उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क : मैं प्रमाण-पत्र दूँगा । हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कंदगुप्त ने समस्त सामंतों को आमंत्रण दिया है । मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी और मैं ही उसका परिचालन करूँगा । वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा—और यह तो प्रमाण-पत्र । (पत्र लिख कर देता है)

पुरगुप्त : ठहरो !

अनंतदेवी : चुप रहो !

दूत : तो यह उपहार भी साम्राज्ञी के लिए प्रस्तुत है । (रत्नमंजूषा देता है)

भटार्क : और उत्तराण्य के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या किया है ?

दूत : आर्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ । सद्धर्म के समस्त अनुयायी और संघ, स्कंदगुप्त के विरुद्ध हैं । याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है । वे सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं ।

भटार्क : अच्छा, जाओ । नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा । हूणराज से कहना कि सावधान रहें—शीघ्र वहीं मिलूँगा ।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त : यह क्या हो रहा है ?

अनंतदेवी : तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है !

सैनिक : (प्रवेश करके) महादेवी की जय हो !

भटार्क : क्या है ?

सैनिक : कुसुमपुर की सेना जालंधर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार में शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त : विजया ! बहुत विलंब हुआ। एक पात्र...

(अनंतदेवी संकेत करती है / विजया उसे पिलाती है)

भटार्क : मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न ? मैं उसके पहले पहुँचूँगा।

सैनिक : परंतु महाबलाधिकृत !

भटार्क : कहो !

सैनिक : यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केंद्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यों के लिये विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं ! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे ?

भटार्क : अबोध ! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

विजया : बात तो यही है।

सैनिक : आप महाबलाधिकृत हैं -इसलिए मैं कुछ न कहूँगा।

भटार्क : नहीं तो ?

सैनिक : यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो !

भटार्क : (क्रोध से) हैं...

सैनिक : हाँ ! यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में ! देश पर बर्बर हूणों की

चढ़ाई और तिसपर भी यह निर्लज्ज आमोद ! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का—यह दृश्य—आह ! जिस मगध की सेना सदैव नासीर में रहती थी—आर्य्य चंद्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमंत्रण पाने पर साम्राज्य-सेना में जाय ! महाबलाधिकृत ! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्म-हत्या कर लूँ ! मैं उस सेना का नायक हूँ, जिस पर गरुडध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य समुद्रगुप्त द्वारा प्रतिष्ठित—उसी सेना का ऐसा अपमान !

भटार्क : (अपने क्रोध का मनोभाव दबाकर) अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक : हूँ—अच्छा तो यह खड्ग लीजिये, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। (खड्ग रख देता है)

पुरगुप्त : (मद्यप की-सी चेष्टा करते) यह अच्छा किया—आओ मित्र—हम-तुम कादंब पियें। जाने दो इन्हें—लड़ने दो !

अनंतदेवी : (भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है और विजया से कहती है) विजया ! युवराज का मन बहलाओ।
(सैनिक तिरस्कार से देखते हुए जाता है/भटार्क और अनंतदेवी एक ओर विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं/दृश्यांत)

४

(अवंती के उपवन में जयमाला और देवसेना)

जयमाला : तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता ? जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है !

पहली सखी : सम्राट् युद्ध-यात्रा में गये हैं और...

दूसरी सखी : तो क्या ?

देवसेना : तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी गाऊँ वह गीत ?

जयमाला : मेरी प्यारी ! तू गाती है । अहा ! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसातीं ताल-सी लहरा रही है । तू दुखी होती है, मैं जाती हूँ । अरी ! तुम सब इसे हँसाओ । (जाती हूँ)

देवसेना : क्या महारथी हार कर भगे ! अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है ? अच्छा तो आओ ।

पहली सखी : नहीं, राजकुमारी ! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

दूसरी सखी : हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है !

तीसरी सखी : तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी ? उहूँ !

देवसेना : प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है—क्यों कहूँ ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है ।

पहली सखी : न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है—और क्या !

देवसेना : तेरा मुँह काला, और क्या ? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बड़ा कोमल है । कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती ? (मुँह फेर लेती है)

दूसरी सखी : लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ ।

देवसेना : क्यों घाव पर नमक छिड़कती है ? मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता—कचोटने का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ । उसी में सब छिप जाता है । (आँखों से आँसू बहता है)

तीसरी सखी : है-हैं...क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो !

देवसेना : (सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ, बस, फिर नहीं । यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा ।

दूसरी सखी : तुम्हें इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी ।

देवसेना : (सम्हलकर) यहीं तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रुठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं ! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी ! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुंब में गृहस्थी सम्हाल कर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

तीसरी सखी : आश्चर्य ! राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक वरसाती नदी वेग से भरी है !

देवसेना : कूलों में उफनकर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा ! परंतु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

(पहली सखी गाती है)

माँझी ! साहस है ? खे लोगे !

जर्जर तरी भरी पथिकों से झड़ में क्या खोलोगे ?

अलस नील-घन की छाया में—

जलजालों की छल-माया में—अपना बल तोलोगे !

अनजाने तट की मदमाती—

लहरें, क्षितिज चूमती आतीं—ये झटके झेलोगे ?

माँझी ! साहस है ? खे लोगे !

(भीमवर्मा का प्रवेश)

भीमवर्मा : बहिन ! शक-मंडल से विजय का समाचार आया है।

देवसेना : भगवान् की दया है।

भीमवर्मा : परंतु महाराज पुत्र गोविंदगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा...

देवसेना : वे धन्य हैं !

भीमवर्मा : वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बंधुवर्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिए अभी वे स्कंधावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नहीं हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना ?

देवसेना : क्या ?

भीमवर्मा : सम्राट् ने तुम्हें वचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गांधारवंशी राजा अब वहाँ नहीं है। काश्मीर अब साम्राज्य के अंतर्गत हो गया है।

देवसेना : सम्राट् की महानुभावता है। भाई ! मेरे प्राणों का इतना मूल्य ?

भीमवर्मा : आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन ! सिंधु-प्रदेश के म्लेच्छ-राज्य का ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठा कर नहीं देखता। लौहित्य से सिंधु तक हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छंदतापूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं !

देवसेना : मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिये, कोई वस्तु असंभव नहीं।

भीमवर्मा : उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है— जाता हूँ।

देवसेना : भाई ! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चित रहते हो। और कामों के लिए तो—

(भीम हँसता हुआ जाता है/मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल : जो है सो काणाम से करके - यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी !

देवसेना : क्या है मुद्गल !

मुद्गल : वही-वही, सीता की सखी मंदोदरी की नानी त्रिजटा ! कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था ! मेरी कुंडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया ! शाप दूँगा - एक शाप ! दाँत पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा। मुझे इस झंझट में फँसा दिया ! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया— ?

देवसेना : तो क्या बुरा किया ?

मुद्गल : झख मारा, जो है सो काणाम से करके ।

देवसेना : अरे व्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल : न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता ? बाबा अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले । परंतु यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा ! (सब हँसती हैं)

देवसेना : आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल : हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरी पारण की द्वादशी क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है !

देवसेना : अच्छा, आज तुम्हारा निमंत्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ ।

मुद्गल : जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो ! फिर शीघ्रता होनी चाहिये । पुण्यकाल बीत न जाय; चलिये मैं उसे बुला लेता हूँ । (सब जाते हैं/दृश्यांत)

५

(गांधार की घाटी—रणक्षेत्र)

(तुरही बजती है, स्कंदगुप्त और बंधुवर्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश)

बंधुवर्मा : वीरो ! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुंदरियों की धीणा के साथ मंद ध्वनि से नंदन में गूँज उठेगी । असीम साहसी आर्य्य-सैनिक ! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर् हूणों को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है । जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात म-साम्राज्य पादाक्रांत है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जय वीर हैं । समझ लो आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है । जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय ।

सैनिक : आर्य्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार—महाबलाधिकृत को भी नहीं है । हम सब प्राण देने आये हैं—खेलने नहीं !

स्कंदगुप्त : साधु ! तुम यथार्थ ही जननी जन्मभूमि की संतान हो ।

सैनिक : राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

चर : (प्रवेश करके) परम भट्टारक की जय हो !

स्कंदगुप्त : क्या समाचार है ?

चर : देव ! हूण शीघ्र ही—नदी पार होकर—आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, यदि आक्रमण न हुआ, तो वे स्वयं आक्रमण करेंगे।

बंधुवर्मा : और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है ?

चर : मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मैं न कहूंगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है, खिगिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड़ सकेंगे कि नहीं इसमें संदेह है।

स्कंदगुप्त : बंधुवर्मा ! तुम कुभा के रण-क्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूंगा।

बंधुवर्मा : राजाधिराज ! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना—आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना न हटेगा।

स्कंदगुप्त : बंधु ! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बंधुवर्मा : परंतु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मर कर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बंधुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र में नहीं। आपके रहने से मौ बंधुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिये।

स्कंदगुप्त : बंधुवर्मा ! तुम बड़े कठोर हो।

बंधुवर्मा : शीघ्रता कीजिये। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्तव्य है, उसे मैं ही कहूंगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूंगा। चक्रपालित वीर है, परंतु अभी वह नवयुवक है, आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिये।

स्कंदगुप्त : मैंने समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासवात न करेगा।

बंधुवर्मा : ओह ! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठाकर न देखेगा—सम्राट् ! शीघ्रता कीजिये !

स्कंदगुप्त : (आलिगन करता है) मालवेश की जय !

बंधुवर्मा : महाराजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !

(चर के साथ स्कंदगुप्त जाते हैं / नेपथ्य में रणवाद्य / शत्रु-सेना आती है / हूणों की सेना से विकट युद्ध / हूणों का मरना, घायल होकर भागना/बंधुवर्मा की अंतिम अवस्था/ गरुडध्वज टेक कर उसे चूमना)

बंधुवर्मा : (दम तोड़ते हुए) विजय ! तुम्हारी... विजय...! आर्य्य... साम्राज्य की जय !

बंधुवर्मा : भाई ! स्कंदगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, भीम और देवसेना उनकी शरण हैं।

सैनिक : महाराज ! आप क्या कहते हैं ! (सब शोक करते हैं)

बंधुवर्मा : बंधुगण ! यह रोने का नहीं—आनंद का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।

सैनिक : महाराज बंधुवर्मा की जय !

(गरुडध्वज की छाया में बंधुवर्मा की मृत्यु / दृश्यांत)

६

(दुर्ग के सम्मुख कुभा का रणक्षेत्र/चक्रपालित और स्कंदगुप्त)

चक्रपालित : सम्राट् ! प्रतारणा की पराकाष्ठा ! दो दिन से जान-बूझकर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ—मगध की समस्त सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कंदगुप्त : चक्र ! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिये। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं परंतु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा।

चक्रपालित : नही सम्राट् ! उसे बंदी कीजिये। वह देखिये—आ रहा है।

भटार्क : (प्रवेश करके) राजाधिराज की जय हो !

स्कंदगुप्त : क्यों सेनापति ! यह क्या हो रहा है ?

भटार्क : आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट् !

स्कंदगुप्त : या समय की ?

भटार्क : सम्राट् का मुझ पर विश्वास नहीं है, यह...

चक्रपालित : विश्वास तो कहीं से क्य नहीं किया जाता !

भटार्क : तुम अभी बालक हो ।

चक्रपालित : दुराचारी ! कृतघ्न ! अभी मैं तेरा कलेजा काड़ खाता, तेरा...

भटार्क : सावधान ! अब मैं सहन नहीं कर सकता ! (तलवार पर हाथ रखता है)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! वह बालक है । कूट-मंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता—
चुप रहो चक्र ! (चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं)
भटार्क ! प्रवचना का समय नहीं है । स्मरण रखना—कृतघ्नों
और नीचों की श्रेणी में, तुम्हारा नाम पहले रहेगा । (भटार्क
चुप रहता है) युद्ध के लिए प्रस्तुत हो ?

भटार्क : मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा ।

स्कंदगुप्त : अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण
करो और सामने से मैं आता हूँ । चक्र ! तुम दुर्ग की रक्षा करो ।

भटार्क : जैसी आज्ञा ! नगरहार के स्कंधावार को भी सहायता के लिए
कहला दिया जाय तो अच्छा हो ।

स्कंदगुप्त : चर गया है । तुम शीघ्र जाओ । देखो - सामने शत्रु दीख पड़ते हैं ।
(भटार्क का प्रस्थान)

चक्रपालित : तो मैं बैठा रहूँ ?

स्कंदगुप्त : भविष्य अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से समय पर सहायता पहुँ-
चती नहीं दिखाई देती । परंतु यदि आवश्यकता हो— तो शीघ्र
नगरहार की ओर प्रत्यावर्तन करना । मैं वहीं तुमसे मिलूंगा ।
(चर का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : गांधार युद्ध का क्या समाचार है ?

चर : विजय ! उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये— परंतु सम्राट्
बन्धुवर्मा नहीं है ।

स्कंदगुप्त : आह बंधु ! तुम चले गये ? धन्य हो वीर-हृदय ! (शोक से बंठ जाता है)

चक्रपालित : इसका समय नहीं है सम्राट्, उठिये सेना आ रही है, इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है ।

स्कंदगुप्त : (उठते हुए) ठीक कहा ! (भटार्क के साथ सेना का प्रवेश)
भटार्क ! देखो, कुभा के उस बंध से सावधान रहना । आक्रमण में यदि असफलता हो और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो उसे काट देना । देखो भटार्क ! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है ।

भटार्क : जैसी आप की आज्ञा । (कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कंदगुप्त : चक्र ! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना ! हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे । तुम सावधान !

(नेपथ्य में रण-वाद्य)

देखो - वह हूण आ रहे हैं ! उन्हें वहीं रोकना होगा ।

चक्रपालित : जैसी आज्ञा । (जाता है)

स्कंदगुप्त : वीर मगध-सैनिको ! आज स्कंदगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुडध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जायें !

मगध-सेना : राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त की जय !

(सेना बढ़ती है/ऊपर से अस्त्र-वर्षा होती है, घोर युद्ध के बाद हूण भागते हैं, साम्राज्य-सेना जयनाद करते हुए शिखर पर अधिकार करती है)

नायक : (ऊपर से देखता हुआ) सम्राट् ! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है !

स्कंदगुप्त : क्या कहा ?

नायक : कुछ मगध-सेना भी वहां है, परंतु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है ।

स्कंदगुप्त : विश्वासघात—प्रतारणा ! नीच भटार्क !

नायक : फिर क्या आज्ञा है ?

स्कंदगुप्त : दुर्ग की रक्षा होनी चाहिये । उस पार की हूण-सेना यदि आ गई, तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा । वीरो, शीघ्र उन्हें उसी पार रोकना होगा, अभी कुभा पार होने की संभावना है ।
(नायक तुरही बजाता है सैनिक इकट्ठे होते हैं)

स्कंदगुप्त : (घबराहट से देखते हुए) शीघ्रता करो !

नायक : क्या ?

स्कंदगुप्त : नीच भटार्क ने वंध्य तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है । चलो शीघ्र -- (सब उतरना चाहते हैं अकस्मात् जल बढ़ जाता है/सब बहते दिखाई देते हैं)

(गहन होते अंधकार में पटाक्षेप)

चतुर्थ अंक

१

(कुसुमपुर के प्रकोष्ठ में विजया और अनंतदेवी)

अनंतदेवी : क्या कहा ?

विजया : मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ ! जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ ।

अनंतदेवी : क्यों ? इतनी उत्तेजना क्यों है ? सुनूँ भी तो ।

विजया : समझ जाओ ।

अनंतदेवी : नहीं, स्पष्ट कहो ।

विजया : भटार्क मेरा है !

अनंतदेवी : तो ?

विजया : उस राह से दूसरों को हटना होगा ।

अनंतदेवी : कौन छीन रहा है ?

विजया : एक पाप-पंक में फँसी हुई निर्लज्ज नारी । क्या उसका नाम भी बताना होगा ? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा ।

अनंतदेवी : (हँसती हुई) मूर्ख रमणी ! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं । वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है—समझी ?

विजया : समझी और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है ।

अनंतदेवी : (बात बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ? क्यों—वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया : हाँ वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परंतु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है ! तुमसे उत्पन्न हुई संतान—छिः !

अनंतदेवी : क्या कहा ? समझ कर कहना ।

विजया : कहती हूँ—और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता। प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़ों विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दूढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिये। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलाम-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं। कह देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणा को एक फूँक में उड़ा दूँगी !

अनंतदेवी : क्या ! इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से बालों को सुगंधित करने के लिए गंधचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उसे तुम... एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, ले अपने भटार्क को, मुझे ऐसे कीट-पतंगों की आवश्यकता नहीं। परंतु स्मरण रखना, मैं हूँ अनंतदेवी ! तेरी कूटनीति के कांटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैल-श्रृंग का वज्र ! मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे ! (जाती है)

विजया : मैं कहीं की न रही ! इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गंभीर समुद्र ! दुर्बल रमणी-हृदय थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा ! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना ! जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वाछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति ! यह मन का विष यह बदलने वाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह ! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रगट करते हैं, तो भूल जाते हैं कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता

वही सच्ची है, जहाँ, स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ—कहाँ—किधर ? (उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है / पड़च्युत नायक का प्रवेश)

नायक : शांत हो ।

विजया : कौन ?

नायक : एक सैनिक ?

विजया : दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है ।

नायक : क्यों सुंदरी ?

विजया : क्रूर ! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी बड़प्पन के लिए, अपना दंभ दिखलाने के लिए एक अनियंत्रित हृदय का लोहों से खेले विडंबना है ! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिए तुम्हारे अस्त्र हैं ? ✓

नायक : साम्राज्य की रक्षा के लिए !

विजया : झूठ—तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था । डाकू ! थोड़े-से ठीकरों के लिए अमूल्य मानव-जीवन का नाश करने वाले, भयानक भेड़िये !

नायक : (स्वगत) पागल हो गई है क्या ?

विजया : स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कंदगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए ? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए ? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शांति ! ओह !

नायक : शांत हो !

विजया : शांति कहाँ ? अपनों को दंड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई, उन्हें दिखाने के लिए—‘मैं भी कुछ हूँ !’ अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था । उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच-हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी—अब उसका फल मिला ।

नायक : रमणी ! भूला हुआ लौट आता है, खोया मिल जाता है; परंतु जो
ज्ञान-बूझकर भूल-भुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है,
वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है।
 शांति का—कल्याण का मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ
 को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया : (सिसकती हुई) मैं अनाथ निःसहाय हूँ !

नायक : (बनावटी रूप उतारते) मैं शर्वनाग हूँ—सम्राट् का अनुचर।
 मगध की परिस्थिति देख कर अपने विषय अंतर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया : क्या अंतर्वेद के विषयपति शर्वनाग ?

शर्वनाग : हाँ, परंतु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाचलीला
 सफल होना चाहती है। विजया ! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े
 और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा, कल्याण का मार्ग
 प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर
 सकें तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को
 झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राजमार्ग
 का सुख पावें !

विजया : (कुछ सोचकर) तुमने सच कहा ! सबको कल्याण के शुभागमन के
 लिए कटिबद्ध होना चाहिये, चलो। (दोनों का प्रस्थान/दृश्यांत)

२

(भटार्क का शिविर नर्तकी गाती है)

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी, भूल कर भी जब स्मरण होता कभी ।
 मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला, नींद मुझको आ चली थी बस अभी ।
 सब रंगों में फिर रही हैं बिजलियाँ, नील नीरव ! क्या न बरसोगे कभी ?
 एक झोंका और मलयानिल अहा ! क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी ।
 कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह, यह समस्या हल न होगी क्या कभी ?

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी : भटार्क ! कहाँ है मेरा सर्वस्व ? बता दे—मेरे आनंद का उत्सव,
 मेरी आशा का सहारा—कहाँ है ?

भटार्क : कौन ?

कमला : कृतघ्न ! नहीं देखता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होंने तुझ-से धिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही—वही ,देव-प्रतिमा महादेवी देवकी ।

भटार्क : (पहचानकर) कौन—मेरी माँ !

कमला : तू कह सकता है । परंतु मुझे तुमको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा में गड़ी जा रही हूँ ! जिस जननी की संतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुख दिखाना चाहिये ? आह भटार्क !

भटार्क : राजमाता और मेरी माता !

देवकी : बता भटार्क ! वह आर्यवर्त्त का रत्न कहाँ है ? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी—कहाँ है ? उससे शत्रुता करते हुए तुझे—

कमला : बोल दे भटार्क !

भटार्क : क्या कहूँ—कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो—हिमवान की गल जाने वाली बर्फ से पूछो कि वह कहाँ है—मैं नहीं……।

देवकी : आह ! गया मेरा स्कंद—मेरा प्राण !

(गिरती है—मृत्यु)

कमला : (उसे सन्हालती हुई) देख पिशाच—एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले—नीच ! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देखकर एक बार हृदय खोल कर हँस ले । हा देवी !

भटार्क : क्या ! (भयभीत होकर देखता है)

कमला : इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाचभूमि को छोड़ कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा कराने के लिए—नरक के कीड़े—तू जीता रहा !

भटार्क : माँ अधिक न कहो । साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का

मेरा उद्देश्य नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कंदगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा !

कमला : अरे मूर्ख ! अपनी तुच्छ-बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूल कर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है ! पामर ! तू सम्राटों का नियामक बन गया ? मैंने भूल की—सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोट कर क्यों न मार डाला ! आत्म-हत्या के अतिरिक्त अब कोई प्रायश्चित्त नहीं।

भटार्क : माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।
(तलवार डाल देता है)

कमला : तूने विलंब किया भटार्क ! महादेवी—एक दिन जिसके नाम पर गुप्त-साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अंत्येष्टि-क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं !...हा दुर्दैव !

भटार्क : (ताली बजाता है एक सैनिक आता है) महादेवी की अंत्येष्टि-क्रिया राज-सम्मान से होनी चाहिये। चलो, शीघ्रता करो !
(देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं)

कमला : भटार्क ! इस पुण्य-चरण के स्पर्श से, संभव है, तेरा पाप छूट जाय !
(भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक में दृश्यांत)

३

(काश्मीर-न्यायाधिकरण में मातृगुप्त, एक स्त्री और दंडनायक)

मातृगुप्त : नंदीग्राम के दंडनायक देवनंद ! यह क्या है ?

देवनंद : कुमारामात्य की जय हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त : फिर किसका है ? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये ! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उनकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनंद : परंतु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन भर की भृति से भी उसका भरना असंभव है ।

मातृगुप्त : तब राज-कोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगोगे ।

देवनंद : परंतु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है । यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धिशालिनी वेश्या अपने अंतरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती, फिर मैं कैसे पता लगाऊँ ? गुप्तचर भी थक गये !

मातृगुप्त : हाँ, इसका नाम मैं भूल गया ।

देवनंद : मालिनी ।

मातृगुप्त : क्या ! मालिनी ? (कुछ सोचता हुआ) अच्छा, जाओ कोषाध्यक्ष को भेज दो ।

(देवनंद का प्रस्थान)

मातृगुप्त : मालिनी ! अवगुंठन हटाओ, सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ । (मालिनी अवगुंठन हटाकर मातृगुप्त की ओर देखती है/मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है)

मातृगुप्त : तुम कौन हो - मालिनी ? छलना ! नहीं-नहीं, भ्रम है !

मालिनी : नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ ! अवगुंठन केवल इसलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी ! मातृगुप्त ! मैं वही हूँ ।

मातृगुप्त : तुम ? नहीं मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवता—वेश्या ! असंभव । परंतु नहीं, वही है मुख ! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है—उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है, पर तुम वही हो ! हा दुर्दैव !

मालिनी : दुर्दैव !

मातृगुप्त : मैं आज तक तुम्हें पूजता था । तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा । मूर्ख मैं—आह मालिनी ! मेरे शून्य भाग्याकाश के मंदिर का द्वार खोलकर तुम्हीं ने उनीदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे बिखारी-ससार पर स्वर्ण बिखेर दिया था । तुम्हीं ने मालिनी ! तुमने सोने के लिए

नंदन का अम्लान कुसुम बेंच डाला । जाओ मालिनी !
राज-कोष से अपना धन ले लो ।

मालिनी : (मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई) एक बार क्षमा कर दो
मातृगुप्त !

मातृगुप्त : मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण
(५) भुल जाऊँ । पर वह स्मृति—दूसरे प्रकार की होगी । उसमें
ज्वाला न होगी । धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर
सामने आवेगी ! जाओ ! (मालिनी का प्रस्थान/चर का प्रवेश)

चर : कुमारामात्य की जय हो !

मातृगुप्त : क्या समाचार है—सम्राट् का पता लगा ?

चर : नहीं । पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर
भी आक्रमण किया चाहते हैं । (प्रस्थान)

मातृगुप्त : तो सब गया ! मेरी कम्पना के सुंदर स्वप्नों का प्रभात हो
रहा है । नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के
भाले ! ओह ! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त
में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक
धुल जायेंगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-
यमुना की घाटियाँ किसी आर्य-सद्गृहस्थ के स्वच्छ और
पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्न-
दान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्य-जाति अपने दृढ़ सबल
हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का
तिरस्कार करती हुई, अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा
किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी,
आलस्य-सिंधु में शेष-पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिंधु में
हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्यावर्त की वेला-
भूमि पर निछावर होंगी । उद्बोधन के गीत गाये—हृदय के
उद्गार सुनाये जायेंगे—परंतु पासा पलट कर भी न पलटा !
प्रवीर उदार-हृदय स्कंदगुप्त कहाँ हैं ? तब, काश्मीर ! तुझसे
विदा । (प्रस्थान/बृहन्नांत)

४

(नगर प्रांत के पथ में धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति)

प्रख्यात० : प्रिय वयस्य ! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है ?

धातुसेन : भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आवद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और गंभीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है। एक-से-एक सुंदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। किंतु देखता हूँ, बौद्ध-जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध है। महाबोध-विहार के संघ-महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यात-कीर्त्ति हैं। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यात० : राजमित्र ! मुझे क्षमा कीजिये। मैं धर्मलाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूँ। महास्थविर बनने के लिए नहीं।

धातुसेन : मित्र ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यात० : वह तो विरक्त हो कर घूम रहा है।

धातुसेन : तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यात० : पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे ?

धातुसेन : जहाँ तक संभव हो शीघ्र चलो।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु : आचार्य ! महान् अनर्थ !

प्रख्यात० : क्या है ? कुछ कहो भी !

भिक्षु : विहार के समीप जो चातुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं। इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातुसेन : चलो, हम लोग भी चलें—उन उत्तेजित लोगों को शांत करने का प्रयत्न करें। (सब जाते हैं / दृश्यांत)

५

(विहार के समीप चतुष्पथ/एक ओर ब्राह्मण लोग बलि के उपकरण लिए, दूसरी ओर उत्तेजित भिक्षु और बौद्ध जनता/दंडनायक का प्रवेश)

दंडनायक : नागरिकगण ! यह समय अंतर्विग्रह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों को लिए परस्पर झगड़ते हो।

ब्राह्मण : इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं इन गुप्त शत्रुओं को कृतघ्नता का उचित दंड मिलना चाहिये।

श्रमण : ठीक है। गंगा-यमुना, और सरयू के तट पर गड़े हुए यज्ञयूप सद्धर्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे—क्या करते—विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यों के द्वारा बनते हैं—उन्हीं के सुख के लिए।

④ जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शांति में बाधा पड़ती हो—उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण : ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियंता नहीं देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी—हमारे धर्माचरण में स्वयं विघाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण : निरीह प्राणियों के बध में कौन-सा धर्म है - ब्राह्मण ? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकार मूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था । उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था ? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जंबूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की ? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा । इन पशुओं के बदन हमारी बलि होगी । रक्तपिपासु दुर्दांत ब्राह्मणदेव ! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे ।

१५ (धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति का प्रवेश)

धातुसेन : अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया । यदि वेसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी ? उपनिषदों के 'नेति-नेति' से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है ! यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धांत, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्त्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है । वह एक सुधार था—उसके लिए रक्तपात क्यों ?/

दंडनायक : देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायें, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूँगा ।

ब्राह्मण : क्यों न होने दोगे—अधार्मिक शासक ! क्यों न होने दोगे ? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्त-साम्राज्य शिथिल है । कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके—धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा-नियुक्त करे । आह धर्मदेव ! तुम कहाँ ?

धातुसेन : प्रससिद्ध प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रांत है—जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है । क्षत्रिय राजा—धर्म का पालन कराने वाला राजा—पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया ? आपने इसे विचारा है ? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं ? क्यों एक

वर्ण के लोग दूसरे की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं ? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया, दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धर्म, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है। जिस धर्म के आचरण के लिए

४ पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म जन-साधारण की संपत्ति नहीं ! धर्मवृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के कांटेदार जाल फैलाये गये हैं और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है, इसीलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण ! जो पारस्यदेश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात में एक गो-निष्क्रय भी कर सकता है। धर्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की

५ आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा !

ब्राह्मण : तुम कौन हो मूर्ख उपदेशक ? हट जाओ—तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध ! तुमको क्या अधिकार है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो ?

धातुसेन : ब्राह्मण क्यों महान् हैं इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी ऋत और अमृत-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे—सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की संतान हैं जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बंद कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि, ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यात० : धर्म के अंधभवतो ! मनुष्य अपूर्ण है । इसलिए सत्य का विकास जो उनके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है । यही विकास का रहस्य है । यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय । प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परंपराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है । सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत होते रहे हैं और होंगे । हम लोगों को हठ-धर्मिता से उन-आगंतुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले जानों से मुंह न फेरना चाहिए । हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें हैं । आओ हम दोनों विचार के फूलों से दुःखदग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें ।

अनेक व्यक्ति : ठीक तो है ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देख कर घर में घुस जाते हैं । हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते ?

दंडनायक : यही तो बात है नागरिक !

प्रख्यात० : मैं इस विहार का आचार्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों से बौद्धों को माननी चाहिए । मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसीलिए धर्म है । किंतु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही । अतः यदि तुम में कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं । क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा । आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है !
(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यात० : (हँसकर) यही आपका धर्मोन्माद था ? एक युद्ध करने वाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुंदुभी बजाना - यही आपकी कृपा की सीमा है ? आइये, घर लौट जाइये । (ब्राह्मण से) आओ रक्त-पिपासु

धार्मिक ! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को संतुष्ट करो !
(सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण : (तलवार फेंककर) धन्य हो महाश्रमण ! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे-ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूँगा। (जनता में जय-जयकार/सब धीरे-धीरे जाते हैं/दृश्यांत)

६

(पथ में विजया और शोकमग्न मातृगुप्त)

विजया : नहीं कविवर ! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त : कौन, विजया !

विजया : आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि ! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ! एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायें।

मातृगुप्त : (विकल भाव से) देवि ! तुम देवि.....

विजया : हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो ! एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कंदगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायें ! सुना दो वह संगीत-जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय-अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुंद की मोह-निद्रा से भारतवासी जाग पड़ें। हम-तुम गली-गली, कोने-कोने पथ्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे।

मातृगुप्त : वीर बाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा (बेखकर) वह लो चक्रपालित आ रहा है। (चक्रपालित का प्रवेश)

चक्रपालित : (अन्यमनस्क भाव से) लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिंदु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-

कणिकाओं की प्रभात-लीला, मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है
जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्णमेघ में बिजली की वर्णमाला—एक
क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली ! भविष्यत्
का अनुचर—तुच्छ मनुष्य अतीत का स्वामी है ! (४)

मातृगुप्त : बंधु चक्रपालित !

चक्रपालित : कौन, मातृगुप्त !

भीमवर्मा : (विक्षिप्त सा सहसा प्रवेश करके) कहाँ है मेरा भाई, मेरे हृदय
का बल, भुजाओं का तेज, वसुंधरा का शृंगार, वीरता का
वरणीय — बंधु, मालव-मुकुट आर्य्य बंधुवर्मा ?
(प्रख्यातकीर्ति का प्रवेश)

प्रख्यात० : सब पागल, लूटे गये-से अनाथ और आश्रयहीन—यही तो
हैं ! आर्य्य-राष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न-माम्राज्य-पोत के
टूटे हुए पटरे और पतवार, ऐसे वीर हृदय ! ऐसे उदार !

मातृगुप्त : तुम कौन हो ?

प्रख्यात० : संभवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो !

मातृगुप्त : (शंका से देखता हुआ) क्यों अहेरी कुत्तों के समान सूँघते हुए
यहाँ भी ! परंतु तुम

प्रख्यात० : संदेह मत करो मातृगुप्त । शैशव-महचर कुमार धातुसेन की
आज्ञा से मैं तुम लोगों को खोज रहा हूँ । यह तो
प्रमाण-पत्र ।

मातृगुप्त : (पढ़कर) धन्य सिंहल के युवराज, श्रमण ! कह देना, मैं
आज्ञानुसार चलूँगा और कनिष्क-चैत्य के समीप भेंट होगी ।

प्रख्यात० : कल्याण हो ! (जाता है)

विजया : कहाँ चलें हम लोग ?

मातृगुप्त : उसी जंगल में ।

(सब लोग जाते हैं/दृश्यांत)

(कमला की कुटी पर विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी बटपत्रणायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है ? (चिंतामग्न होता है) करुणासहचर ! क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो ? नाथ ! मुझे दुखों से भय नहीं, संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है ! परंतु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था ! आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था ! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो—मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं, यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष—गुप्त-साम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह ! जाने दो, गया सब कुछ गया ! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्त्तव्य—विस्मृत, भविष्य—अंधकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है—

बजा दो वेणु मनमोहन ! बजा दो !
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो ।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूँको ।
हमें सब भीति-बंधन से छुड़ा दो ।
सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ ?
रसीले राग में मन को मिला दो ।
तुम्हीं सब हो इसी की चेतना हो ?
इसे आनंदमय जीवन बना दो ।

(प्रार्थना में झुकता है/उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश)

शर्वनाग : छीन लिया, गोद से छीन लिया, सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के मांस की तरह सेंकने लगे ! जिन पर विश्व-भर का भंडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने—हूणों ने—लुटेरों ने—लूट लिया ! किसने आहो को सुना—भगवान् ने ? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना ! देखते हुए भी न देखा ! आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर, अब नहीं । देश के हर कानन चिता बन रहे हैं । घघकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है । अपनी ज्वाला मुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता ? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले !
(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

स्कंदगुप्त : कौन है ? यह शर्वनाग है क्या ? अंतर्वेद भी हूणों से पादाक्रांत हुआ ? अरे आर्यावर्त्त के दुर्दैव ! विजली के अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है ? भगवान् ! यह अर्धोन्मत्त शर्व ! आर्य साम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है ? कितना बीभत्स है । सिंहों की विहार-स्थली में शृगाल-वृंद सड़ी लोथ नोच रहे हैं ।

(पगली रामा का प्रवेश)

रामा : (स्कंद को देखकर) लुटेरा है तू भी ! क्या लगा, मेरी सूखी हड्डियाँ ? तेरे दाँतों से टूटेंगी ? देख तो—(हाथ बढ़ाती है)

स्कंदगुप्त : कौन ? रामा ।

रामा : (आश्चर्य से) मैं रामा हूँ ! हाँ, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला ! (ठहरकर) मेरी ? मेरी संतान ! इन अभागों की-सी वे नहीं थीं । वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैलाकर सोना जानती थीं । घघकती हुई ज्वाला में हँसती हुई कूद पड़ती थीं । तुम (देखती हुई) लुटेरे भी नहीं, उहँ कायर भी नहीं, अकर्मण्य

बातों में भुलाने वाले—तुम कौन हो ? देखा था एक दिन ! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुंकार से दस्युओं को कंपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोयें खड़े हो जाने थे, भुजायें फड़कने लगती थीं । वही स्कंद-रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यवर्त्त की छत्र-छाया । नहीं, भ्रम हुआ ! तुम निष्प्रभ्र, निस्तेज उसी के मलिन चित्र-से — तुम कौन हो ? (प्रस्थान)

स्कंदगुप्त : (बैठकर) आह ! मैं वही स्कंद हूँ—अकेला, निस्सहाय !

(कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है)

कमला : कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है --

सहानुभूति को जाग्रत करो । यदि भविष्यत से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ ।

तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पादाघात से विध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा ! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो

अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है वही ईश्वर का अवतार है । उठो स्कंद ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ । आर्य्यवर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा - वीर !

स्कंदगुप्त : कौन तुम ? भटार्क की जननी !

(नेपथ्य से क्रंदन—‘बचाओ-बचाओ’ का शब्द)

स्कंदगुप्त : कौन ? देवसेना का-सा शब्द ! मेरा खड़ग कहाँ है—(जाता है)

(देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश)

देवसेना : भीम ! भाई ! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये ?

हूण : कौन तुझे बचाता है ? (पकड़ना चाहता है, देवसेना छुरी निकाल कर आत्महत्या किया चाहती है / पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है)

—क्षमा हो !

पर्णदत्त : अत्याचारी ! जा, तुझे छोड़ देता हूँ । आ बेटी, हम लोग चलें
महादेवी की समाधि पर ।

कमला : कहाँ, वहीं—कनिष्क के स्तूप के पास ?

देवसेना : हाँ, कौन कमला देवी ?

कमला : वही अभागिनी ।

देवसेना : अच्छा जाती हूँ, फिर मिलूंगी ।

(पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान/स्कंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : कोई नहीं मिला । कहाँ से वह पुकार आई थी ? मेरा हृदय व्याकुल
हो उठा है । सच्चे मित्र बंधुवर्मा की धरोहर ! ओह !

कमला : वह सुरक्षित है, घबराइये नहीं । कनिष्क के स्तूप के पास आपकी
माता की समाधि है, वहीं पर पहुँचा दी गई है ।

स्कंदगुप्त : मां ! मेरी जननी ! तू भी न रही ! हा !

(मूर्च्छित होता है / कमला उसे उठाकर कुटी में ले जाती है)

(पटाक्षेप)

पंचम अंक

१

(पथ में मुद्गल)

मुद्गल : राजा से रंक और ऊपर से नीचे; कभी दुर्वृत्त दानव, कभी स्नेह संवलित मानव, कहीं वीणा की झन्कार, कहीं दीनता का तिरस्कार।
 (सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है) भाग्यचक्र ! तेरी बलिहारी ! जयमाला। यह सुनकर कि बन्धवर्मा वीरगति को प्राप्त हुए सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक-साम्राज्य महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहे हैं, सब विक्षिप्त ! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परंतु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनंतदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणों से संधि कर ली है; मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट की उपाधि है 'प्रकाशादित्य' परंतु प्रकाश के स्थान पर अंधेरा है ! आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं ! समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है (सामने देखकर) वह विजया आ रही है ! तो हट चलूँ।

(उठकर जाना चाहता है)

विजया : अरे मुद्गल ! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं। ①

मुद्गल : तुम कौन हो जी ? बे जान-पहचान की छेड़-छाड़ अच्छी नहीं लगती, और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है, मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है - मुझसे रूठे हुये हैं ? किसी दूसरे पर उसका स्नेह है ? वह सुंदरी कब मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ? इस देश के छबीले छल और रसीली छोकरीयों

ने यही पश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए मुहूर्त पूछे जाते हैं !

विजया : क्या मुद्गल ! मुझे पहचान देने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है ?

मुद्गल : अवकाश हो या नहीं मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया : क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य—मनुष्य से बात न करें ? सच है, आज्ञापालना ही संसार के व्यवहारों की दलाल है। परंतु मनुष्यता भी कौन जानता है मुद्गल !

मुद्गल : उसका नाम न लो। जिस हृदय में अशुद्ध वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है और जो क्रूरताओं का भंडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसका मनुष्यता से क्या संबंध ?

विजया : न सही परंतु इतना तो बता लो, सम्राट् स्कंदगुप्त से कहाँ भेंट होगी ? क्योंकि यह बात चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल : क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुह से ? अवन्ती में एक दिन यह बात सा जानते थे कि विजया महादेवी होगी !

विजया : उसी एक दिन के बदले मुद्गल आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल : तुम्हारा साहम तो कम नहीं है !

विजया : मुद्गल ! बता दोगे ?

मुद्गल : तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी ! देवसेना के साथ जहाँ पूर्णदत्त रहते हैं, आज कमला देवी के कुटीर से सम्राट् वहीं अपनी जननी की समाधि पर जाने वाले हैं—उसी कनिष्क-स्तूप के पास ! अच्छा, जाता हूँ। देखो विजया ! मैंने बता तो दिया—पर सावधान ! (जाता है)

विजया : उमने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी, परंतु क्या यह सच्चा परिवर्तन है ? क्या मैं अपने को भूलकर देश-सेवा कर सकूंगी ? क्या देवसेना—ओह ! फिर मेरे सामने वही समस्या।

आज तो स्कंदगुप्त सम्राट् नहीं हैं, प्रतिहिंसे—सो जा ! क्या कहा ? नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था—विजया भी एक बार वही करेगी । देश-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती ! मेरा रत्न-गृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिये सम्राट् को दूंगी, और—एक बार बनूँगी महादेवी ! क्या नहीं होगा ? अवश्य होगा । अदृष्ट ने इसी-लिए उस रक्षित रत्न-गृह को बचाया है । उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ ! तो आज वही कलूँगी, और, इसमें दोनों होंगे—स्वार्थ और परमार्थ ! (प्रस्थान)

भटार्क : (प्रवेश करते) अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परंतु परिणाम में मधुर होता है । ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट् ! परंतु गया—मेरी ही भूल से सब गया । आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहे थे—‘भटार्क, सावधान ! जिस काल-भुजंगी राष्ट्र नीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना ।’ हाय ! न हम उसे वश में कर सके और न तो उससे अलग हो सके ! मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दंभ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया । अनंतदेवी—एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र से—आशा के प्रलोभन में, मैंने सब बिगाड़ दिया । सुना है कि यहीं कहीं स्कंदगुप्त भी हैं, चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ । (प्रस्थान/दृश्यांत)

२

(कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि/अकेले पर्णदत्त टहलते हुए)

पर्णदत्त : सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती है । जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय ! अक्षय-निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ ! मैं रोऊँगा नहीं, परंतु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है ! नहीं, पर्ण ! रोना मत । एक बूंद भी आँसू आँखों में न दिखाई पड़े । तुम जीते

रहो—तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। संतोष कर उछलते हुए हृदय—संतोष कर! तू रोटियों के लिए नहीं जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परंतु जिस काम को कभी नहीं किया—उसे करते नहीं बनता—स्वांग भरते नहीं बनता, देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा—साक्षी रहना भगवान् !

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्णदत्त : बाबा ! कुछ दे दो ।

नागरिक : और तुम्हारी वह कहाँ गई—वह... (संकेत करता है)

पर्णदत्त : मेरी बेटी स्नान करने गई है। बाबा ! कुछ दे दो !

नागरिक : मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती—तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। (जाता है)

पर्णदत्त : (बाँत पीसकर) नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा। बालों को सँवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है ! कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़ कर चल रहा है, अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई ! जिस देश के नवयुवक ऐसे हों उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज !

देवसेना : (प्रवेश करते) क्या है बाबा। क्यों चिढ़ रहे हो ? जाने दो, जिसने नहीं दिया—उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्णदत्त : अपना ! देवसेना ! अन्न पर स्वत्त्व है भूखों का और धन पर स्वत्त्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है। वह थाती है—उसे लौटाने में इतनी कुटिलता ! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं ? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि...

देवसेना : बाबा ! क्षमा करो । जाने दो, कोई तो देगा ।

पर्णदत्त : हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है ! बेटी ! ये युद्ध में मरना जानते हैं, परंतु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है ।

देवसेना : बाबा ! महादेवी का समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ । नौ दिनों से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं—सब कहाँ है ?

पर्णदत्त : आवेंगे बेटी ! तुम बैठो, मैं अभी जाता हूँ । (प्रस्थान)

देवसेना : संगीत-नभा की अंतिम राह दार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचन हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति—मेरा धृष्ट नारी जीवन ! मेरे प्रिय गान ! अब क्या गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इन बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनंतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है— (गाती है)

शून्य गगन में खोजता जैसे चंद्र निराश

राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश ।

हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें,

मचलता है बता क्या दू छिपा तुझसे न कुछ मुझमें ।

रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,

मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस ।

हृदय ! तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलती तुझमें,

मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें । (प्रस्थान)

(वेश बदले हुए स्कंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम । (समाधि के समीप घुटने टेककर फूल चढ़ाते हुए) माँ अंतिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट—यह अपमान ! माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अपराध क्षमा करो ।
देवसेना का प्रवेश)

देवसेना : (पहचानती हुई) कौन ? अरे—सम्राट की जय हो !

स्कंदगुप्त : देवसेना !

देवसेना : हाँ राजाधिराज ! क्षण भाग्य, आज दर्शन हुए ।

स्कंदगुप्त : देवसेना ! बड़ी-बड़ी कामनायें थीं ।

देवसेना : सम्राट् !

स्कंदगुप्त : क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है ?

देवसेना : हाँ यहीं गाँवर भीख माँगती हूँ, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ ।

स्कंदगुप्त : मालवेश-कुमारी देवसेना ! तुम और यह कर्म ! समय जो चाहे करा ले ! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था ! देवसेना यह सब मेरा प्रायश्चित्त है । आज मैं बंधुवर्मा के आत्मा को क्या उत्तर दूँगा ? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उद्धार होऊँगा ? मैं यह सब देखता हूँ—और, जीता हूँ !

देवसेना : मैं अपने लिए ही नहीं माँगती देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलंब हैं ! किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड ! उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है ।

स्कंदगुप्त : वृद्ध पर्णदत्त—तात पर्णदत्त ! तुम्हारी यह दशा ? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है । देवसेना ! अब इसका कोई काम नहीं, चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न होंगे ! साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना समस्त तुम्हें अर्पित करके उद्धार होऊँगा, और एकांतवास करूँगा !

देवसेना : सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूँ ! मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी । सम्राट् ! देखो यहाँ पर सती जयमाला की छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिये !

स्कंदगुप्त : देवसेना ! वंधुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी ।

देवसेना : परंतु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूंगी ! मैं आजीवन दासी बनी रहूंगी ; परंतु आप के प्राप्य में भाग न लूंगी ।

स्कंदगुप्त : देवसेना ! एकांत में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूंगा ! साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो !

देवसेना : तब तो और भी नहीं ! मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये । आप को अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी ! सम्राट्—क्षमा हो । इस हृदय में—आह ! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये । नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।

(स्कंद के पैरों पर गिरती है)

स्कंदगुप्त : (आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई । आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा ; मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है ।

देवसेना : हैं, है—यह क्या किया !

स्कंदगुप्त : कल्याण का श्री गणेश ! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका—तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कट छोड़ सकूँगा ।

देवसेना : (निश्वास लेकर) देवव्रत ! तुम्हारी जय हो । जाऊँ आर्य पणंदत्त को लिवा लाऊँ । (प्रस्थान)

(विजया का प्रवेश)

विजया : इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इंदीवर का विकास । इसी कारण अब मैं भी मरती हूँ । मेरे स्कंद ! प्राणाधार !

स्कंदगुप्त : (घूमकर) यह कौन, इंद्रजाल-मंत्र ? अरे विजया !

विजया : हाँ, मैं ही हूँ ।

स्कंदगुप्त : तुम कैसे ?

विजया : तुम्हारे लिए अंतस्तल की आशा जीवित है ।

स्कंदगुप्त : नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो । उन बातों को रहने दो ।

विजया : नहीं, मुझे कहने दो (सिसकती हुई) मैं अब भी...

स्कंदगुप्त : चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो । तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ । (X)

विजया : मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो ।

स्कंदगुप्त : परंतु साम्राज्य के लिए मैं अपने को बेच नहीं सकता । विजया चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं । यह प्रसंग यहीं तक !

विजया : मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का प्रसंग छोड़ दिया है । तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ । मैं माणव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतंत्र करा दूँगी; अर्थलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है । केवल तुम स्वीकार कर लो ।

स्कंदगुप्त : विजया, मुझे इतना लोभी समझ लिया है ? मैं सम्राट् बन कर सिंहासन पर बैठने के लिए नहीं हूँ । शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा । सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से मैं उत्कोच देकर साम्राज्य नहीं चाहता ।

विजया : क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गई ? आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो ।

स्कंदगुप्त : और असहाय दीनों को राक्षसों के हाथ, उनके भाग्य पर छोड़ दूँ ?

विजया : कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख । फिर सब का बोझ अपने सिर पर लाद कर क्यों व्यस्त होते हो ?

स्कंदगुप्त : परंतु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, दिश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उमरी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ, विजया ! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संमत पर केवल आचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध है। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक ।

विजया : रहने दो यह थोथा ज्ञान प्रियतम ! यह भरा हुआ जीवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते करते हम लोग तिरोहित हो जायें। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के दिलीन हो जाने पर भी जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रखे । स्वर्ग की कल्पित अप्सरायें और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी—जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों, वही मादक-सुख, घोर-आनंद, विराट्-धिनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय !—अगुरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से, व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से। व्याकुल बिजली-सी तुम सचली आर्द्र-हृदय-घनमाला से, आँसू बहती से उलझी हों, अधर प्रेम के प्याला से। इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से, व्याकुलता ली-सी बलछा कर उलझ रही हो जीवन से। छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से, ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कंपन सम से। इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से, बजा करें अगणित यंत्रों से सुख-दुख के अनुपातों से।

उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लोछित हो ।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहो ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ ।
(स्कंद के पैरों को पकड़ती है)

स्कंदगुप्त : (पैर छुड़ाकर) विजया ! पिशाची ! हट जा, नहीं, जानती, मैंने
आजीवन कौमार्य-व्रत की प्रतिज्ञा की है ।

विजया : तो क्या मैं फिर हारी ?

(भटार्क का प्रवेश/विजया स्तब्ध होती है)

भटार्क : निर्लज्ज हारकर भी नहीं हारता, मर कर भी नहीं मरता । ④

विजया : कौन, भटार्क ?

भटार्क : हाँ, तेरा पति भटार्क । दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश-सेवा
करके पवित्र हाने का अवसर मिला है, परंतु हिंस्र पशु कभी
एकादशी का व्रत करेगा—पिशाची कभी शांति-पाठ पढ़ेगी ? ⑤

विजया : (सिर नीचा करके) अपराध हुआ ।

भटार्क : फिर भी किसके साथ ? जिस पर अत्याचार करके मैं भी लज्जित
हूँ—जिससे क्षमा-याचना करने में आ रहा था । नीच स्त्री !

विजया : घोर अपमान, तो वस... (छुरी निकाल कर आत्म-हत्या करती है)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! इसके शव का संस्कार करो ।

भटार्क : देव ! मेरी भी लीला समाप्त है— (छुरी निकाल कर अपने को
मारना ही चाहता है कि स्कंदगुप्त हाथ पकड़ लेता है)

स्कंदगुप्त : तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है । तुम्हारा
यह प्रायश्चित्त नहीं । रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्म-भूमि का
उपकार करो । भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के
लिए नहीं—जन्म-भूमि के उद्धार के लिए—मैं अकेला युद्ध करूँगा
और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं
वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा । आत्महत्या के लिए जो अस्त्र
तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रखो ।

भटार्क : (स्कंद के सामने घुटने टेक कर) 'श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !' जो आज्ञा होगी वह करूँगा !

स्कंदगुप्त : (प्रस्थान करते) पहले इस शव का प्रबंध होना चाहिए ।

भटार्क : (स्वगत) इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं लाओ, इसे यहीं गाड़ दूँ ! (भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथरत्न-गृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना/स्कंदगुप्त का आकर रत्न-गृह देखना)

स्कंदगुप्त : भटार्क ! यह तुम्हारा है ।

भटार्क : हाँ सम्राट् ! यह हमारा है, इसीलिए देश का है । आज से मैं सेनासंकलन में लगूँगा ।

स्कंदगुप्त : वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है—स्तूप के पास ।

भटार्क : नागरिकों का उत्सव है (रत्न-गृह बंद करके) चलिये, देखूँ ।

(दृश्यांत)

३

(स्तूप का एक पार्श्व/नागरिकों का आवागमन/उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि का और दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश),

नागरिक : अरे वह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय ।

अन्य नाग० : हाँ रे छोकरी ! कुछ गा तो !

पर्णदत्त : भीख दो बाबा ! देश के बच्चे भूखे हैं, असहाय हैं—
कुछ दे दो बाबा !

नागरिक : अरे गाने भी दे बूढ़े !

पर्णदत्त : हाय रे अभागे देश !

(देवसेना गाती है)

वेश की दुर्इशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे ?
हारते ही रहे, न है कुछ अब, बाँव पर आपको न हारोगे ?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर, बीन हो देव को पुकारोगे !

सो रहे तुम, न भाग्य सोता है, आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे !

बीन जीवन बिता रहे अब तक, क्या हुए जा रहे, विचारोगे ?

पर्णदत्त : नहीं बेटी, निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे !

चक्रपालित : आर्य्य पर्णदत्त की जय !

पर्णदत्त : मुझे जय नहीं चाहिये—भीख चाहिये । जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म-भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए, कोई देगा भीख में ?

स्कंदगुप्त : (भीड़ से निकलकर) मैं प्रस्तुत हूँ तात !

भटार्क : श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं)

सब : हम हैं, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं ।

स्कंदगुप्त : आर्य्य पर्णदत्त !

पर्णदत्त : आओ वत्स—सम्राट् । (आलिंगन करता है)

(उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है / चक्रपालित, भीम बर्मा, मातृगुप्त, शर्बनाग, कमला रामा, सब का प्रकट होना / तुमुल जयनाथ के साथ दृश्यांत)

४

(महाबोधि विहार में अनंतदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्त्ति, हूण-सेनापति)

अनंतदेवी : इसका उत्तर महाश्रमण देंगे ।

हूण-सैनप : मुझे उत्तर चाहिए—चाहे कोई दे ।

प्रख्यात० : सेनापति ! मुझ से सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध-संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था—वह अब न होगा ।

हूण-सैनप : तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थी, बंद हो गई और उलटा तिरस्कार !

प्रख्यात० : वह भ्रम था । बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म का उत्थान करने में सहायक होंगे, परंतु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म कोई आश्रय नहीं देगा ।

(पुरगुप्त की ओर देखकर) यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य्य-साम्राज्य के मिहामन पर नहीं देखा चाहता तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनंतदेवी : भिक्षु ! क्या कह रहे हो ? समझ कर कहना।

हूण-सेनप : गोपाद्री से समाचार मिला है, स्कंदगुप्त फिर जी उठा है और सिंधु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं, संभवतः शीघ्र ही अंतिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिये।

पुरगुप्त : क्या - युद्ध ! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नहीं...

अनंतदेवी : तुम रहो।

पुरगुप्त : तब फिर—एक पात्र ! (सेवक देता है)

प्रख्यात० : अनार्य्य ! विहार में मद्यपान ! निकलो यहाँ से।

अनंतदेवी : भिक्षु ! समझ कर बोलो, नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा !

हूण-सेनप : इसी की सब प्रवंचना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा।

प्रख्यात० : क्षणिक और अनात्मभव में कौन किसका वध करेगा—मूर्ख !

हूण-सेनप : पाखंड ! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यात० : निहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं, वहाँ से लौट नहीं सकते।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है)

धातुसेन : (सैन्य प्रवेश करके) 'सम्राट् स्कंदगुप्त की जय !'

(सैनिक सब को बंदी कर लेते हैं)

धातुसेन : कुचक्रिया ! अपने कल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ ! भारत के भीतर की वची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई ज्वाला शांत होगी।

अनंतदेवी : धातुसेन ! यह क्या...तुम हो।

धातुसेन : हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना

की गई—यह उसी का परिणाम है । (सैनिकों से) सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कंधावार में ले चलो ।

(सबका-प्रस्थान, दृश्यांत)

५

(रणक्षेत्र में सम्राट् स्कंदगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिक्रमण करते हैं)

मातृगुप्त : वीरो !

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार ।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक ।
व्योम-तन-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक ।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में संप्रीत ।
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत ।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत ।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ दहण-पथ में हम बढ़े अभीत ।
सुना है बर्धाचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास ।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास ।
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह ।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह ।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंब ।
हमों ने दिया शांति-संदेश सुखी होते देकर आनंद ।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही, धरा पर धूम ।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर धूम ।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि ।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि ।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं ।
हमारी जन्म-भूमि थी यहीं, कहीं से हम आये थे नहीं ।
जातियों का उत्थान-पतन, आंधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर ।

खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ।
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा संपन्न ।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न ।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव ।
वचन में सत्य, हृदय में तेज प्रतिज्ञा में रहती थी देव ।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसे ज्ञान ।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम विष्य आर्य्य-संतान ।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष ।
निष्ठावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।

सब.: (समवेत स्वर में) जय ! राजाधिराज स्कंदगुप्त की जय !
(हूण-सेना के साथ खिगिल का प्रवेश)

खिगिल : बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है !
भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी !
स्कंदगुप्त : यह बात करने का स्थल नहीं है ।

(घोर युद्ध/खिगिल घायल होकर बंदी होता है/सम्राट् को बचाने में
बृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु/गरुडध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है)

स्कंदगुप्त : धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त !

सब : आर्य्य पर्णदत्त की जय ! आर्य्य साम्राज्य की जय !

(बंदी-वेश में पुरगुप्त और अनंतदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश)

स्कंदगुप्त : मेरी सौतेली माता ! इस विजय से आप सुखी होंगी !

अनंतदेवी : क्यों लज्जित करते हो स्कंद ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो !

स्कंदगुप्त : आह ! यदि यही होता मेरी विमाता ! तो देश की इतनी दुर्दशा
न होती ।

अनंतदेवी : मुझे क्षमा करो सम्राट् !

स्कंदगुप्त : माता का हृदय सदैव क्षम्य है । तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म
में प्रवृत्त हुई—वही तो कैंकेयी ने भी किया था । तुम्हारा इसमें
दोष नहीं । जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता
ही समझूँगा परंतु कुमारगुप्त के इस भग्नितेज को तुमने अपने

